सहज राजयोग कर्मयोग

और

निर्विकल्प समाधि

सहज राजयोग, कर्मयोग और निर्विकल्प समाधि

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय
पाण्डव भवन, आबू पर्वत (राजस्थान)

प्रकाशक :
साहित्य विभाग
प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय
19/17 शक्ति नगर, दिल्ली-7

पुस्तक मिलने का पता :
प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय
पाण्डव भवन,
आबू पर्वत (राजस्थान)

मुद्रक :
ओम् शान्ति प्रेस,
ज्ञानामृत भवन,
शान्तिवन, तलहटी,
आबू रोड (राजस्थान)

© Copyright : Brahma Kumaris Ishwariya Vishwa-Vidyalaya, Mount Abu, Rajasthan, India.
No part of this book may be printed without the permission of the publisher.

योगाभ्यास द्वारा पवित्रता और शान्ति

वर्तमान समय 'योग' के विषय पर अनेकानेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। परन्तु इस पुस्तक में हमने इसे अति सरल रूप देकर इस विषय को स्पष्ट किया है। इसमें जिस योग का उल्लेख है उसका बोध स्वयं गीता-ज्ञान-दाता ने कराया है। इस योग का थोड़े दिन अभ्यास करने से भी मनुष्य की स्थिति अव्यक्त होने लगती है, वह स्वयं को प्रकाशमय और आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न अनुभव करता है और आनन्द तथा परम-शान्ति का रसास्वादन करता है। यह योग हमें अकर्मण्यता नहीं सिखाता, बल्कि कर्मों के लिये सक्षम और सशक्त बनाता है और साथ-साथ परमपिता परमात्मा की अनुभूति कराता है।

आशा है कि योगाभिलाषी इस द्वारा परमात्मा से पवित्रता और शान्ति के वरदान प्राप्त करेंगे।

– जगदीश चन्द्र

अमृत-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	सहज योग	5
2.	योगाभ्यास की सहज विधि	13
3.	क्या निष्काम कर्म करना ही कर्मयोग है?	18
4.	कर्म योग और कर्त्तव्य पालन	21
5.	कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को अलग करने वाली रेखा	29
6.	कर्मयोग और निस्संकल्प समाधि	31
7.	योगाभ्यासी के लिए धारणा	41
8.	अब भोगी से कर्मयोगी बनो!	42
9.	कर्मों पर ध्यान दिये बिना मन ठीक नहीं हो सकता	51
10.	योग की कठिनाई का बहाना व्यर्थ है	52
11.	योगाभ्यास में विकल्प और विघ्न	55

सहज योग

ग का विषय बहुत ही मधुर विषय है। 'योग' शब्द सुनते ही मनुष्य का मन उड़कर परमपिता परमात्मा के पास पहुँचने की चेष्टा करने लगता है। योग के द्वारा जो ईश्वरीय आनन्द प्राप्त होता है और मनुष्य के मन में एक अलौकिक मस्ती रहती है, उसका अनुभव करने की इच्छा तो बहुत मनुष्यों को होती है, परन्तु योग की सहज और वास्तविक विधि का पता न होने के कारण वे ईश्वरीय सुख और प्यार के अनुभव से तथा मन की सच्ची शान्ति से वंचित रह जाते हैं और जीवन के अनमोल क्षणों को व्यर्थ ही गँवा देते हैं।

वास्तव में परमप्रिय परमपिता परमात्मा से मिलने अर्थात् उनसे योग-युक्त होने का सभी को अधिकार है और योग-युक्त होना कठिन भी नहीं है। योग में स्थित होने और जीवन में सच्चे सुख-शान्ति का अनुभव करने के लिए मुख्य रूप से छः बातें आवश्यक हैं।

१. निश्चय

इन छः बातों में सबसे पहला स्थान 'निश्चय' को प्राप्त है क्योंकि मनुष्य का 'निश्चय' ही उसके मन, वचन और कर्म का नेता है। मनुष्य जब बुद्धि से किसी चीज़ को अच्छा या बुरा निश्चय कर लेता है तब उसका मन उस चीज़ को प्राप्त करने या छोड़ने का चिन्तन करता रहता है और उसे प्राप्त करने या छोड़ने के विचार से ही वह कर्म अथवा पुरुषार्थ भी करता है। अतः योगाभ्यास, जो कि मन को ईश्वर की ओर लगाने ही का दूसरा नाम है, तभी हो सकता है जब मनुष्य योगी जीवन को ही अपना लक्ष्य निश्चय करे, परमात्मा की लग्न में मग्न होने के

पुरुषार्थ को ही अपना पुरुषार्थ निश्चय करे और स्वयं को अव्यक्त आत्मा निश्चय करे। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि – "जिस मनुष्य को निम्नलिखित दो बातों में निश्चय होता है, वही योगी हो सकता है अथवा उस ही का योगाभ्यास सुविधा से, निर्विघ्न रूप से तथा निरन्तर ठीक चलता रहता है।"

(i) विषय विकारों वाले जीवन में सच्चा सुख नहीं है

सबसे पहले तो मनुष्य को यह निश्चय होना चाहिए कि भोगी जीवन अथवा विकारी जीवन (काम, क्रोध, लोभ आदि वाला जीवन) तो कोई जीवन ही नहीं है बल्कि विकारी जीवन तो नर्कमय जीवन है, उसका तो हरेक मिनट मृत्यु के तुल्य है क्योंकि उसका परिणाम बड़ा खराब और बुरा है। जब तक मनुष्य विकारों वाले जीवन को ही जीवन माने हुए है तब तक तो वह ईश्वरीय आनन्द का रस ले ही नहीं सकता। अत: घर-गृहस्थ में रहते हुए भी मनुष्य जब विकारों को विष समझने लगता है और यह निश्चय करने लगता है कि विकार तो आदि-मध्य-अन्त दु:ख देने वाले हैं और योग ही अमृत है, प्रभु की स्मृति ही सुखदायक है, तब ही योगाभ्यास के लिए उसकी भूमिका अनुकूल बनती है। जब मनुष्य यह निश्चय करता है कि – "भोगी का जीवन तो रोग और शोक का जीवन अथवा क्षण-भंगुर और फीके सुख का जीवन है, इसलिए अब इन विकारों से छूटने का पुरुषार्थ करूँगा और विषय-वैतरणी में डूबते हुए अपने जीवन के बेड़े को निकालने का पुरुषार्थ करूँगा" तब ही वह योग की ओर आगे बढ़ सकता है।

(ii) मैं आत्मा हूँ, परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ

अज्ञानी मनुष्य स्वयं को 'देह' निश्चय करके दैहिक सम्बन्धों के भान में रहता है और दैहिक माता-पिता से ही केवल एक-आध जन्म के लिए ही अल्प सम्पत्ति अथवा सुख का जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त करता है। परन्तु योग का तो आधार ही 'आत्मा निश्चय' है। योगी स्वयं को एक 'आत्मा' निश्चय करने से और 'परमपिता परमात्मा की सन्तान' निश्चय करने से ही अविनाशी 'सुख-शान्ति अथवा दैवी राज्य-भाग्य' का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त कर लेता है। नास्तिक मनुष्य का परमात्मा के अस्तित्व में निश्चय न होने के कारण वह ईश्वरीय आनन्द से वंचित रहता है और स्वयं को ही शिव अथवा परमात्मा निश्चय करने वाला मिथ्या-ज्ञानी मनुष्य परमपिता परमात्मा से जन्म-सिद्ध अधिकार लेने का पुरुषार्थ ही नहीं करता। अत: योगाभ्यास जिसका अर्थ ही है – परमात्मा से सम्बन्ध (Connection) जोड़ना, तब हो सकता है जब आत्मा और परमात्मा को अलग-अलग मानकर आनन्द के सागर, शान्ति के सागर, सर्वशक्तिमान् तथा कल्याणकारी परमात्मा को माता-पिता, बन्धुश्च सखा अथवा शिक्षक और गुरु निश्चय किया जाए। योगाभ्यास के लिए यह निश्चय ज़रूरी है।

२. समर्पणमयता

ऊपर दोनों बातों में निश्चय होने की जो बात स्पष्ट की गई है, उसके अतिरिक्त योगाभ्यास के लिए समर्पणमयता की भी आवश्यकता है। आज तन, मन और धन में आसक्ति होने के कारण ही मनुष्य देह-अभिमानी और सम्पत्ति-अभिमानी है। अत: जब मनुष्य अपना तन, मन और धन परमात्मा ही के हवाले समझता है तभी वह 'नष्टोमोह:

स्मृतिर्लब्धा' होता है अर्थात् तब ही उसकी 'आसक्ति' मिटती है और बुद्धि में परमात्मा की स्मृति टिक पाती है। जब मनुष्य सर्वभाव से परमात्मा पर न्योछावर हो जाता है तो परमात्मा भी त्रिलोकी सहित उस पर न्योछावर हो जाते हैं और तभी मनुष्य आनन्दित होता है। लोग राजा जनक का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब उसने अपना सर्वस्व अष्टावक्र को समर्पित कर दिया तभी उसका मन एकाग्र हुआ। अत: योगाभ्यास की इच्छा वाले गृहस्थी को चाहिए कि वह स्वयं को एक निमित्त (ट्रस्टी; Trustee) अर्थात् एक न्यासी माने और सब-कुछ प्रभु-अर्पण करते हुए, अनासक्त भाव से कर्म करे।

जब तक मनुष्य को अपने पुत्र-कलत्र, धन-धान्य, तन और तबेले में आसक्ति है तब तक उसे योग का रसास्वादन हो नहीं सकता। योग-अभ्यास से आसक्ति नष्ट होती है, परन्तु आसक्ति मिटाने से ही योग ठीक और शक्तिशाली होता है। दोनों बातें एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अत: योगाभ्यास की इच्छा वाले मनुष्य को यह जानना चाहिए कि हमें घर-बार का या वस्त्रों का संन्यास नहीं करना है बल्कि इनसे आसक्ति का संन्यास करना है। केवल इनसे ही आसक्ति का त्याग नहीं करना बल्कि अपने तन से भी आसक्ति को हटाना है और इस सृष्टि को बुद्धि से भुलाना है और इसकी बजाय परमपिता परमात्मा से अपना सम्बन्ध जुटाना है और मुक्तिधाम तथा स्वर्ग की तरफ़ अपना मुख करना है।

३. सरलता और समत्व

सरल चित्त वाला मनुष्य ही सहज में स्वरूप-स्थित हो सकता है। सरल चित्त वाले मनुष्य की बुद्धि उधेड़-बुन में नहीं रहती। अत: योग के लिए मन की सरलता बहुत आवश्यक है। जो व्यक्ति कुटिल है, चाहे

वह कितना ही बुद्धिमान हो, उसके योग का अभ्यास पूर्ण-रूप से साफ़ नहीं हो सकता। 'सरलता पर ही साहिब (परमात्मा) राज़ी हैं।'

४. आहार की शुद्धि और ब्रह्मचर्य

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, उसके स्वभाव में समत्व का आना अथवा उसका स्मृति में स्थित होना बहुत मुश्किल है। योगाभ्यास का अर्थ ही परम-पवित्र परमात्मा पर मन को एकाग्र करना और ईश्वरीय गुणों अथवा सम्बन्ध का मनन करना है; इससे स्पष्ट है कि जो मनुष्य अपवित्रता की बात सोचता है अथवा आसुरी कर्म का मनन करता है, वह तो योगी के लक्ष्य से विपरीत ही लक्ष्य अपनाकर भोगी ही बनने का पुरुषार्थ करता है।

यह निश्चित बात है कि ब्रह्मचर्य-व्रत के बिना मनुष्य में न स्मृति स्थिर हो सकती है, और न सहनशीलता तथा समत्व की भावना आ सकती है।

परमपिता परमात्मा की मिलावट-रहित, शुद्ध और ध्रुव स्मृति में स्थिति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने आहार पर विशेष तौर पर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि आहार का मनुष्य के विचार से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य जैसा आहार लेता है, उसका वैसा ही सत्व बनता है और सतोगुणी अर्थात् पवित्र भोजन करने से उसकी बुद्धि पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है अर्थात् उसके मन की एकाग्रता भी वैसे विषयों पर होती है।

५. स्मृति

प्राय: लोग समझते हैं कि योग बहुत कठिन चीज़ है। परन्तु वास्तव

में स्मृति ही सहज समाधि है। जब-जब मन अपनी देह के भान को भूलकर बिन्दु-सदृश्य ज्योतिस्वरूप परमपिता परमात्मा की स्मृति पर टिक जाता है तो मनुष्यात्मा का परमपिता से योग होता है। 'स्मृति से' हमारा अभिप्राय किसी मंत्र का स्मरण या किसी रूप का ध्यान करना नहीं है, बल्कि सर्वोत्तम गुणों वाले जो परमपिता परमात्मा शिव हैं, उन्हीं से युक्त होना है। जितना-जितना कोई मनुष्य नष्टोमोहः होता है, उतनी-उतनी ही उसकी स्मृति ध्रुव और अव्यभिचारी अर्थात् शुद्ध होती है। परमपिता परमात्मा की शुद्ध स्मृति में रहने से आत्मा शुद्ध एवं पावन होती है और मुक्तिधाम तथा जीवन-मुक्तिधाम में जाती है। परमात्मा की स्मृति में यदि अन्यान्य जीवों या पदार्थों की याद भी मिश्रित हो जाती है तो उसका बुद्धियोग शुद्ध अथवा अव्यभिचारी न होने से उसकी स्थिति और वृत्ति भी अशुद्ध होती है और गति भी तदानुसार ही होती है, क्योंकि स्मृति से ही स्थिति, वृत्ति और कृति का सम्बन्ध है। अतः स्मृति को ठीक तरह ईश्वर में लगाने से संसार की स्थिति भी बदल जाती है।

आपने देखा होगा कि जब कोई मनुष्य किसी बीमारी के कारण अथवा किसी सदमे या अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण स्मृति को खो बैठता है तो वह अनाप-शनाप बकने लगता है। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य को आत्मा की तथा परमपिता परमात्मा की स्मृति नहीं रहती तब उसका भी बोलना-चालना और रहना-करना दैवी मर्यादा के अनुकूल नहीं रहता। अतः आप ही सोचिए कि वृत्ति को भी परिवर्तित करने के लिए स्मृति का कितना महत्व है! वास्तव में स्मृति से ही परमात्मा का सहारा मिल सकता है, स्मृति से ही सहनशीलता आती है, स्मृति ही से सत्य-स्वरूप परमात्मा का संग होता है। स्मृति मानो एक ऐसा इन्जेक्शन है जिसके द्वारा मनुष्य को सर्वशक्तिमान् परमात्मा से शक्ति भी मिलती है और

जिससे कि मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर के विकर्म रूपी कीटाणु अथवा कृमियाँ नाश हो जाती हैं।

योग के लिए मनुष्य को मुख्य रूप से पाँच बातों की स्मृति रखनी चाहिए। (i) मैं कौन हूँ और इस सृष्टि-रूपी सराय में कहाँ से आया हूँ और मुझे कहाँ, कब और कैसे वापस घर जाना है? (ii) अन्य जो सभी शरीरधारी अथवा मनुष्य-तनधारी हैं, उनके साथ मेरा वास्तविक सम्बन्ध क्या है तथा परमात्मा के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है और परमपिता परमात्मा से मुझे क्या प्राप्ति होगी? (iii) मेरी प्रारम्भिक स्थिति कैसी थी और वह कैसे और कब बदली और उसमें गिरावट क्यों आयी तथा अब मैं उस स्थिति को कैसे प्राप्त कर रहा हूँ और उसमें परमपिता परमात्मा ने मुझे कैसे जगाया है? (iv) अब इस जन्म में मुझे क्या करना चाहिए, कैसे परमात्मा पर न्योछावर होना चाहिए और किसकी मत पर चलना चाहिए ताकि मेरा यह जीवन योगी जीवन ही बना रहे? (v) इस जीवन में योगी बनने से अभी और बाद में क्या लाभ हैं, कितनी ज़बरदस्त प्राप्ति है और परमात्मा का बनने में कितना आनन्द है? जब मनुष्य इन पाँचों प्रश्नों के उत्तरों की स्मृति में रहता है तो उसका मन योग-स्थित हो जाता है।

६. अभ्यास

जन्म-जन्मान्तर दैहिक सम्बन्धों के कारण मनुष्य का देह-अभिमान पक्का हो गया है और मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा की विस्मृति हो गई है। अत: अब ईश्वरीय स्मृति के अभ्यास की आवश्यकता है। बार-बार अभ्यास करने से ही स्मृति शुद्ध और ध्रुव होगी। केवल यह निश्चय

हो जाना कि – ''मैं आत्मा हूँ, परमपिता परमात्मा की अविनाशी सन्तान हूँ'', पर्याप्त नहीं है बल्कि उसकी स्मृति का अभ्यास भी आवश्यक है, ताकि यह निश्चय आचरण में आ जाये। कार्य-व्यवहार में बरतते हुए मनुष्य को फिर-फिर विस्मृति हो जाती है और वह देह-अभिमानी हो जाता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन प्रात:काल अमृतवेले तथा रात्रि को तो ईश्वरीय स्मृति में निष्ठ (स्थित) होने का अभ्यास करे, परन्तु दिन-भर में भी कई बार समय निकाल कर कुछ-कुछ मिनट ही सही, प्रेम और उल्लास से ईश्वरीय स्मृति में टिकने का अभ्यास करता रहे।

अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में कभी सुस्ती, कभी थकावट, कभी हिचकिचाहट और कभी उदासीनता की लहर आये तो भी अपने अभ्यास को छोड़ना नहीं चाहिये क्योंकि योग से गिरकर फिर चढ़ना अधिक कठिन हो जाता है। अत: यह सदा याद रखना चाहिए कि योग तो बड़ा सरस और मधुर है और जबकि उससे अतुल प्राप्ति है, तब तो मन की विक्षेपता को हटाकर अभ्यास में लग जाना ही उचित और कल्याणकारी है।

संसार में कई लोग ऐसे हैं जो योग के बारे में बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ते हैं, व्याख्यान सुनते हैं और बौद्धिक रूप से इस विषय को समझते भी हैं। तथापि वे योगी नहीं हैं क्योंकि वे योग का अभ्यास नहीं करते। अभ्यास करने वाले को ही मन की स्थिरता अथवा एकाग्रता का लाभ होता है, आनन्द-रस की अनमोल उपलब्धि होती है और परिवर्तन द्वारा दिव्यता प्राप्त होती है। अत: बार-बार अभ्यास ही एक ऐसा साधन है जो मनुष्य को योग के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देता है।

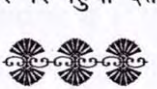

योगाभ्यास की सहज विधि

गाभ्यास के लिए मनुष्य को एकान्त और शान्त स्थान पर बैठना चाहिए। बैठक के लिए किसी स्वच्छ स्थान पर कोई गद्दी या दरी आदि बिछा कर उस पर श्वेत चादर बिछाना अच्छा है। यदि आसपास भी कमरा श्वेत चादरों से ढका हो तो अधिक उपयोगी है। योगाभ्यास के स्थान पर यदि न बोला जाए अथवा धीमे स्वर में बोला जाए तो उत्तम है। वहाँ पर अगरबत्ती, धूप आदि जला देने से भी वातावरण आध्यात्मिक बन जाता है।

योगाभ्यास के लिए यों तो हर समय अनुकूल है परन्तु प्राय: ब्रह्ममुहूर्त अथवा अमृतवेला और सायंकाल संध्या समय, जबकि दिन और रात्रि मिलते हैं, विशेष तौर पर अनुकूल होता है। रात-भर नींद की अवस्था में मनुष्य का मन कुछ आराम कर लेता है और स्थिर होने लगता है। अत: प्राय: जब मनुष्य उठता है तब उसका मन अधिक चंचल नहीं होता और उस समय वातावरण में भी अधिक विचार तरंगें तथा ध्वनि-तरंगें नहीं होतीं क्योंकि बहुत लोग तब सोये होते हैं और भक्त लोगों के भक्ति, पूजा, साधना आदि में लगे होने से वातावरण सहायक होता है। मनुष्य को उस समय दुकान, दफ्तर या दुनियादारी की चिन्ता भी नहीं होती। इस प्रकार संध्या समय, जब रात्रि होने लगती है, तब भी बहुत लोगों के मन में कार्य को समेटने, व्यापार-व्यवहार को बन्द करके घर लौटने और सुखपूर्वक बैठने की चेष्टा होती है और प्रसिद्ध भी है कि – "उस समय देवता सैर करने के लिए निकलते हैं" तथा भक्त पूजा, भक्ति, आरती आदि करते हैं और जंगलों में रहने वाले साधक भी साधना में लग जाते हैं।

योग के लिए न प्राणायाम करने की ज़रूरत है, न ही किसी विशेष आसन पर हठ-पूर्वक बैठने की ज़रूरत है। मनुष्य को जिस तरह भी सुख-पूर्वक बैठने का अभ्यास हो वह वैसे ही बैठे; हाँ, उसके मन में चुस्ती और खुशी की लहर होनी चाहिए और आलस्य या थकान नहीं होनी चाहिए। आंखें बन्द करने की भी आवश्यकता नहीं है, केवल मन को प्रेमपूर्वक प्रभु की स्मृति में लगाने की आवश्यकता है। उसके लिए पहले इस स्मृति में स्थित होना चाहिए कि – "मैं एक आत्मा हूँ, ज्योतिस्वरूप हूँ, बिन्दु-रूप हूँ और भृकुटि में मेरा वास है। सूर्य और तारागण के भी पार जहाँ लाल-लाल-सा प्रकाश है, उस प्रकाश लोक अर्थात् ब्रह्मलोक से मैं इस मनुष्य-सृष्टि में आई हूँ। अब मुझे पुनः वापस उस ब्रह्मलोक में जाना है जहाँ पवित्रता और शान्ति है और आत्मा निर्विकार और शक्ति-सम्पन्न है। वह ब्रह्मलोक ही तो हम आत्माओं का वास्तविक घर है....।"

"मैं आत्मा परमात्मा की सन्तान हूँ। परमात्मा भी ज्योतिस्वरूप हैं। वह भी आत्मा ही हैं और बिन्दु-रूप ही हैं परन्तु वह ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर और प्रेम के सागर हैं और सर्वशक्तिमान् हैं। वह भी ब्रह्मलोक ही के वासी हैं...।" इस विषय में हमें मालूम होना चाहिये कि ब्रह्मलोक कहाँ है!

मनुष्य-सृष्टि के सूर्य और तारागण के भी पार एक अन्य लोक है जिसे 'सूक्ष्म लोक' कहते हैं। उसमें सूक्ष्म एवं प्रकाशमय शरीर वाले ब्रह्मा, विष्णु और शंकर नाम के देवता वास करते हैं। उससे पार एक अन्य लोक है जहाँ 'ब्रह्म' नाम का एक ज्योति तत्व व्यापक है। मनुष्यात्मा उस ही 'ब्रह्मलोक' अथवा परम धाम से इस मनुष्य-सृष्टि पर आई है।

उसी ब्रह्मलोक के वासी, अर्थात् सूर्य और तारागण के भी पार ज्योति-बिन्दु रूप परमात्मा शिव पर ही मन एकाग्र करना चाहिए।

जैसे तार द्वारा बल्ब का कनेक्शन पावर-हाउस से जोड़ देने से बल्ब में लाइट और माइट (शक्ति) आने लगती है, वैसे ही ईश्वरीय याद ही बिना तन्तु के ऐसी तार है जिस द्वारा आत्मा का कनेक्शन परमात्मा से जुड़ जाता है। अत: इस प्रकार की स्मृति द्वारा मन को परमात्मा से जोड़ना चाहिए कि – ''मैं तो परमपिता परमात्मा की सन्तान, ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ। मैं सर्वशक्तिमान्, त्रिलोकीनाथ, त्रिकालदर्शी, आनन्द के सागर, सभी आत्माओं के परमपिता, देवों के भी देव, ज्योति-बिन्दु परमात्मा शिव ही की हो चुकी हूँ **(ऐसा मनन करते समय मन की आंख ब्रह्मलोक में परमपिता शिव पर लगी होनी चाहिए)**। अहा! वहाँ से मेरे ऊपर प्रकाश और शक्ति उतर रहे हैं और मेरे माध्यम द्वारा सारे संसार में विकीर्ण होकर उसे भी पवित्रता से सींच रहे हैं! अहा, कितना आनन्द है इस अवस्था में!! मैं तो एक प्रकाश का गोला हूँ; शक्तिस्वरूप हूँ; मुझे इतनी शक्ति मिल रही है, इतनी ज्योति मिल रही है! शिव बाबा, आपने मुझे अपना बनाया है, मैं बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ। यही तो वास्तविक जीवन है; सुख है तो इसी अवस्था में है.....। आप ही तो पतितों को पावन बनाने वाले, कलियुगी सृष्टि को बदलकर सतयुगी बनाने वाले और सबको मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति देने वाले हैं। शिव बाबा! आप तो सद्बुद्धि देकर मनुष्य को देवता बना देते हैं और 21 जन्मों के लिए स्वर्गिक राज्य-भाग्य देते हैं.....।'' इस प्रकार मनन करते-करते, प्रेम-विभोर होकर परम-पिता परमात्मा शिव की स्मृति में तन्मय हो जाना चाहिए और आनन्द तथा शान्ति के रसास्वादन में, एकाग्र-चित्त स्थिति में देह की सुध-बुध भूले हुए-से, परमधाम (ब्रह्मलोक) में प्रकाश में

बैठकर लाइट, माइट और शान्ति का स्वरूप होकर बैठना चाहिए।

यह अभ्यास केवल अमृतवेले और संध्या समय ही नहीं बल्कि दिन-भर कार्य करते हुए भी करना चाहिए। दूसरे नर-नारियों को कार्य-व्यवहार के समय उन्हें भी आत्मिक दृष्टि से ही देखना चाहिए अर्थात् यह स्मृति होनी चाहिए कि ये सभी भी भृकुटि में रहने वाली ज्योति-बिन्दु आत्माएं हैं, परमपिता शिव की अमर सन्तान हैं, मैं भी एक आत्मा ही हूँ। चलते-फिरते मनुष्य के अपने मन में यह धुन लगी रहनी चाहिए कि – ''मैं तो परमधाम से इस सृष्टि-क्षेत्र पर आया हूँ; यह देह रूपी चोला लेकर मैं थोड़े समय के लिए अपना पार्ट बजा रहा हूँ। अब तो यह सृष्टि-नाटक ही पूरा होने वाला है और यह चोला यहीं छोड़कर, सब दैहिक नाते यहीं छोड़कर मुझे वापस ब्रह्मलोक में लौटना है। मैंने मोह-ममता तथा आसक्ति की जंजीरों को तोड़ दिया है, मैं तो मुक्तिदाता प्रभु का बच्चा हूँ, इसलिए आज़ाद ही हूँ। हाँ, लोक-सेवार्थ तथा जीवन-निर्वाहार्थ मुझे कर्म करना है, परन्तु मैं तो एक ट्रस्टी (Trustee) हूँ। मैं जैसा भी हूँ प्रभु का हूँ और मेरा सब-कुछ उसी का है। मैं अपनी कर्मेन्द्रियों रूपी अमानत (धरोहर) द्वारा ख्यानत नहीं करूँगा, अर्थात् कोई भी विकर्म नहीं करूँगा और पाप तथा ताप का भागी नहीं बनूँगा। शिव बाबा! मैं तो आपका बच्चा हूँ और अपने वास्तविक तथा आदिम स्वरूप में शान्ति-स्वरूप, प्रेम-स्वरूप, प्रकाश-स्वरूप, पवित्र और बिन्दु-रूप हूँ! अब मैं सर्वभाव से आपकी शरण में आया हूँ, आप ही का बना हूँ और आपकी आज्ञानुसार चलकर अपने जीवन को उच्च बनाने का पूरा पुरुषार्थ करूँगा....।''

इस प्रकार, दफ्तर में, दुकान में या घर में कार्य करते हुए भी मन में आत्मिक स्मृति और ईश्वरीय स्मृति को बनाये रखना चाहिए। इससे

कार्य-क्षमता बढ़ेगी, निर्णय शक्ति तीव्र होगी और विवेक प्रखर होगा। दृष्टि और वृत्ति पवित्र रहेगी, सहनशीलता आदि दिव्य-गुण आयेंगे और हर्ष, उल्लास, शान्ति, शक्ति और दूसरों के प्रति कल्याण-भावना का अनुभव होगा। थकावट नहीं होगी, दुविधा, असमंजस, उलझन, खेद या सन्ताप का अनुभव नहीं होगा। मनुष्य स्वयं को वायु के समान हल्का अनुभव करेगा और घर तथा बाहर के कर्त्तव्यों को निभाते हुए भी कमल-पुष्प के समान न्यारा और प्यारा रहेगा तथा निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, ईर्ष्या-द्वेष आदि की परिस्थितियों में भी एकरस, अलिप्त, अविकार और आनन्द-निमग्न रहेगा। इस प्रकार, अपने योगी जीवन और पवित्र जीवन द्वारा वह अन्य अनेकानेक आत्माओ का भी आत्मा-रूपी दीपक जगाने तथा उनका कल्याण करने के निमित्त बनेगा और अपने कुटुम्बी-जनों पर भी अच्छा प्रभाव डालकर उन्हें भी जीवन को उच्च बनाने की प्रेरणा देगा।

मन चंचल क्यों है?

अगर किसी मनुष्य के पास रहने के लिए मकान न हो तो वह गली-गली में घूमता है कि कहीं कोई खाली मकान रहने के लिए मिले। इसी प्रकार आज के व्यक्ति का मन इसलिए चंचल रहता है अथवा इधर-उधर घूमता है कि कहीं कोई शान्ति का ठिकाना मिल जाय। अत: मन की चंचलता से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि शान्ति के सागर, परमपिता परमात्मा को तथा परमधाम को जानकर, मन को वहाँ ठिकाना दे दिया तो मन शान्त हो ही जायेगा। इसी का नाम योगाभ्यास है।

क्या निष्काम कर्म करना ही कर्म-योग है?

से भी बहुत से लोग आपको मिलेंगे जो कहेंगे कि – ''कर्म करते चलना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है'' वे कहेंगे कि मनुष्य को **निष्काम कर्म** करना चाहिए, यही 'कर्म-योग' है, इससे मनुष्य अन्त में सभी दु:खों से मुक्त हो जाता है। परन्तु सोचने की बात है कि आज संसार में कर्म तो पहले से भी अधिक हो रहा है और कर्म तो होता भी आया है, परन्तु फिर भी दुनिया दु:खी क्यों है? स्पष्ट है कि कर्म तो हो ही रहा है परन्तु कर्त्तव्य नहीं हो रहा है अथवा धर्म-संगत कर्म नहीं हो रहा है। निष्काम कर्म तो कोई होता ही नहीं है क्योंकि कामना तो 'निष्काम' में भी भरी हुई है। इस कर्म-क्षेत्र पर कर्म से तो कोई छूट ही नहीं सकता। भेद केवल कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का है। मनुष्य कर्म करते हुए परमात्मा की याद में नहीं रहता और यह भी भूल जाता है कि मैं आत्मा हूँ और दूसरों के साथ भी मेरा आत्मिक सम्बन्ध (नाता) है – कमी केवल इसी बात की है। आज, जो लोग प्रात: से सायंकाल तक दफ्तर में, दुकान में या घर में कर्म किये चले जाते हैं, उन्हें हम 'कर्मचारी' (Worker), 'व्यापारी' (कर्म रूपी व्यापार करने वाले) या 'व्यवसायी' तो कहेंगे, परन्तु उन्हें हम 'कर्म-योगी' की संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि कर्म करते हुए उनका मनो-योग अथवा बुद्धि-योग परम-पिता परमात्मा से नहीं है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि कर्म, अकर्म और विकर्म का अथवा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का अथवा धर्म और कर्म का

तथा आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध तथा संसार का ज्ञान होना ज़रूरी है। जब तक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होगा और वह उस ज्ञान के आधार पर सत्य धर्म को कर्म से नहीं जोड़ेगा या कर्म करते हुए भी योगी नहीं बनेगा तब तक वह सत्य कर्म नहीं कर सकेगा और 'कर्म-योगी' नहीं कहला सकेगा।

कर्म-योगी बनने के लिए क्या-क्या जानना ज़रूरी है?

आप देखेंगे कि मनुष्य जब घर में आता है तो उसे यह ज्ञान रहने के कारण कि अमुक मेरी स्त्री है, अमुक मेरे पुत्र-पुत्री आदि हैं, वह उनसे वही-वही सम्बन्ध मानकर उस सम्बन्ध-ज्ञान पर आधारित कर्म या कर्त्तव्य करता है। दफ्तर में जब वह जाता है तो – "अमुक मेरा अफ़सर या इन्चार्ज है, अमुक-अमुक मेरे अधीन हैं," यह ज्ञान रहने से वह अमुक-अमुक से वैसे ही व्यवहार करता तथा कर्त्तव्य करता है। परन्तु वह सम्बन्ध-ज्ञान तो देह-दृष्टि पर आधारित है जबकि देह द्वारा कर्म करने वाली तो आत्मा ही है। अत: जैसे स्वयं को गृहस्थी मानने पर मनुष्य गृहस्थ के कर्त्तव्य निभाता है, दफ्तर में क्लर्क मानने पर वह क्लर्क का कर्त्तव्य निभाता है, वैसे ही यदि मनुष्य को आत्मा के घर (शान्तिधाम) का ज्ञान हो और यह भी उसे मालूम हो कि यह सृष्टि एक विराट नाटक है, शरीर मेरे वस्त्र हैं और मेरे सम्बन्धी इस नाटक में मेरे सह-पार्टधारी हैं – परन्तु वास्तव में हैं ये भी आत्माएं हैं और कि मुझे साक्षी होकर उच्च कर्त्तव्य करना है, तो वह शान्ति रूपी पारलौकिक धर्म का भी पालन करेगा और दूसरों के साथ अपने वास्तविक (आत्मिक) सम्बन्ध को जानकर आत्मिक रीति-नीति तथा विधि-विधान से कर्त्तव्य करेगा। तब

संसार के सभी झगड़े-रगड़े, तनाज़े-तकाज़े, दु:ख और दाग़ मिट जायेंगे और जहाँ मातम के मारे लोग रो रहे हैं, वहाँ खुशी की शहनाइयाँ बजने लगेंगी और यह संसार अमरलोक अथवा स्वर्गलोक अथवा सुखधाम बन जायेगा।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि जो मनुष्य स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करते हुए, सृष्टि को एक अनादि नाटक मानते हुए, परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होते हुए, स्वयं को निमित्त (Trustee) मानकर कर्म अर्थात् कर्त्तव्य करता है, वही सही अर्थ में कर्मयोगी है।

कर्मयोग और कर्त्तव्य-पालन

रेक मनुष्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान तो होना ही चाहिए। यदि मनुष्य को यह मालूम न हो कि घर वालों के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है, देश या समाज के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है और स्वयं अपने प्रति भी उसका क्या कर्त्तव्य है, तो उसके अपने जीवन में भी अशान्ति पैदा होती है और समाज तथा देश में भी कलह और क्लेश पैदा होता है। वह मनुष्य योग का भी ठीक प्रकार से अभ्यास नहीं कर पाता और उसका गृहस्थ भी आश्रम के समान निर्मल नहीं बनता। जब तक मनुष्य ज्ञान-युक्त कर्म न करता हो तब तक वह योग की सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि उस द्वारा किये गये अकर्त्तव्य उसके योगाभ्यास में बाधा डालते हैं और उसके मन को मैला तथा चित्त को बुरे संकल्पों से विक्षिप्त करते हैं। अत: जो गृहस्थी योगाभ्यास का अभिलाषी है, उसे कर्त्तव्य ज्ञान का होना भी ज़रूरी है।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का प्रश्न जब से उठा है तब से संसार में इस प्रश्न पर मत-भेद चला आया है। उदाहरण के तौर पर कई लोग तो यह कहते हैं कि – "चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, अहिंसा का पालन मनुष्य का परम धर्म तथा प्रथम कर्त्तव्य है।" दूसरे लोग कहते हैं कि – "अपनी रक्षा के लिए अथवा दूसरों को भी किसी अत्याचार या अन्यायकारी से बचाने के लिए हिंसा करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में भी हिंसा न करने से संसार में अत्याचारियों को प्रोत्साहन मिलता है।" परन्तु अहिंसावादी कहते हैं कि यदि दूसरा व्यक्ति हिंसा करके अकर्त्तव्य का दोषी बनता है तो हम क्यों उससे प्रभावित होकर अपना कर्त्तव्य (अहिंसा) छोड़ते हैं? उनका कहना है कि यों

सामान्य परिस्थिति में तो हरेक सामान्य व्यक्ति अहिंसक ही है, मनुष्य की कर्त्तव्य परायणता की अथवा अहिंसा-धर्म की परीक्षा तो तभी होती है जब हिंसा की सम्भावना वाली परिस्थिति आती है। अत: वे कहते हैं कि ज्ञानी के शस्त्र तो प्रेम, अहिंसा, मधुर भाषा, सहनशीलता आदि ही हैं, न कि हिंसा, द्वेष, कटुता, प्रतिशोध की भावना (Revengeful Attitude) आदि। इसलिए गीता में भगवान् के महावाक्य हैं कि – "हे वत्स, कर्म या कर्त्तव्य क्या है और किस कर्म की क्या गति है, इस प्रश्न पर तो पण्डित-जन भी असमंजस में पड़े हुए हैं, उनकी बुद्धि भी मोहित है, अत: तू कर्म, अकर्म और विकर्म की गति का ज्ञान स्वयं मुझसे प्राप्त कर और कर्मयोगी बन।"

मनुष्य स्वयं तो अल्पज्ञ है और अविवेक तथा मिथ्या-ज्ञान से भी प्रभावित हो जाता है। अत: कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे में स्वयं ज्ञान के सागर परमपिता परमात्मा शिव जो सत्य ज्ञान देते हैं, उसे प्राप्त करने से ही मनुष्य तथा समाज का कल्याण हो जाता है और मनुष्य योग-युक्त होकर आनन्द का भागी भी बन सकता है। परन्तु आज जब हम कई लोगों को कहते हैं कि आप ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त कीजिए और उसके लिए कुछ समय निकालिये तो वे लोग कहते हैं – "ईश्वरीय ज्ञान की क्या आवश्यकता है? हम तो ठीक ही चल रहे हैं। परिवार में बाल-बच्चों के प्रति तथा स्त्री के प्रति हमारा कर्त्तव्य है – धन कमाना और उनके कपड़े-लत्ते और खान-पान आदि के लिए आर्थिक प्रबन्ध करना। वह फ़र्ज तो हम अच्छी तरह निभा ही रहे हैं। वैसे भी हम यही कोशिश करते हैं कि किसी को दु:ख न दें, किसी से झूठ न बोलें और किसी से ज्यादा नाजायज़ पैसा न ऐठें। हाँ, बाकी आजकल के ज़माने में थोड़ी-बहुत

हेराफेरी तो करनी ही पड़ती है।''

क्या मनुष्य अपना कर्त्तव्य निभा रहा है?

परन्तु वास्तव में उनका यह कथन तो ऐसा है जैसा कि अपने कर्मों के बारे में स्वयं ही न्याय-घोषणा (Judgement) करना अथवा अपने आप को स्वयं ही कर्म-कुशलता का प्रमाण-पत्र (Certificate) या सफलता-पत्र (Clearance Chit) देना। धर्मराज परमपिता परमात्मा उनके कर्मों के बारे में क्या न्याय (Judgement) देते हैं, जानना तो उस न्याय को है, क्योंकि उन्हें कर्म-फल तो उस फैसले (न्याय) के अनुसार ही मिलेगा। इसलिए हम बार-बार कहते हैं कि मनुष्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे में ईश्वरीय ज्ञान होना चाहिए। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए पूर्व-चर्चित उन लोगों का उदाहरण लीजिये जो कहते हैं कि – ''हम तो धन कमाकर अपने बच्चों के प्रति तथा स्त्री के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाते हैं परन्तु किसी का खून तो नहीं करते, झूठ तो नहीं बोलते तथा दु:ख तो नहीं देते।'' ज्ञान के सागर, परम पवित्र परमपिता परमात्मा ऐसे लोगों के प्रति कहते हैं – ''आप धन कमाकर बच्चों तथा स्त्री की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने का कर्त्तव्य करते होंगे, परन्तु उनके सामने क्रोध भी तो करते होंगे, उनमें मोह-ममता की भावना प्रदर्शित करते ही होंगे, किन्हीं लोगों के प्रति कुछ निन्दा सूचक या व्यर्थ के शब्द भी शायद कभी बोलते ही होंगे? क्या क्रोध, मोह आदि अकर्त्तव्य नहीं हैं? क्या आपको क्रोधादि विकारों से युक्त देखकर विकारों की नकल करने से उन बच्चों का जीवन आगे चल कर दु:खित नहीं होगा?''

इसके अतिरिक्त, आप उनकी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, परन्तु आप उन्हें सदा के लिए रोग, शोक, दुर्घटना, दुर्भाग्य आदि से तो रक्षित नहीं कर सकते? तो स्पष्ट है कि आपने अपना पूरा कर्त्तव्य नहीं निभाया। बाल-बच्चों के खान-पान का प्रबन्ध करना या उनके रहने के लिए घर-दर का इन्तज़ाम करना – यह कोई उच्च कर्त्तव्य की पूर्णता नहीं है, क्योंकि इससे तो अल्पकाल का एकांगी और अपूर्ण ही सुख मिलता है। इस विधि तो एक चिड़िया भी चोंच भर-भर कर अपने नन्हें बच्चों के लिए, जहाँ-कहीं से भी हो सकता है, दाना ला देती है और बड़े प्रेम से वह उन बच्चों के मुख में डालती है। वह बहुत परिश्रम करके एक-एक तिनका इकट्ठा करके उनके लिए घोंसला भी बनाती है। जब वह मरती है तो वह घोंसला अपने बच्चों को जायदाद के रूप में दे जाती है। अत: बच्चों को पालने का जो कर्त्तव्य है, वह तो पशु-पक्षी भी बहुत अच्छी तरह कर लेते हैं। मनुष्य तो सभी प्राणियों में उच्च माना गया है, तो उसका कर्त्तव्य भी उन सभी से उच्च होना चाहिए। मनुष्य तो आचार संहिता और व्यवहार संहिता को जान सकता है, अत: यदि वह अपने कर्म के साथ धर्म को नहीं जोड़ता, बुद्धि को ईश्वरीय ज्ञान से नहीं संजोता तो उसकी विशेषता ही क्या रही? अत: अब कर्त्तव्य को अथवा कर्म, अकर्म तथा विकर्म को जानकर कर्म-योगी बनो तो कर्म में ऐसा बल भर जायेगा कि सदा के लिए सुख-शान्ति प्राप्त होगी।''

अन्य किसी का खून नहीं किया, तो आत्मा का गला दबाया होगा

लोग कहते हैं – ''हम किसी का खून नहीं करते।'' तेज़ धार वाले

किसी शस्त्र से वे किसी का खून नहीं करते होंगे, परन्तु तेज़ और तीखी तलवार से भी अधिक घातक शब्द तो वे अपने मुख रूपी म्यान से निकालकर सीधे ही किसी के हृदय का छेदन कर डालते होंगे। ज़हर से भी अधिक ज़हरीली या बन्दूक की गोली से भी अधिक घातक बात कहकर तो वे अपने जीवन में कई कोमल हृदयों को आघात पहुँचाते होंगे? ऐसा भी न करते हों तो वे अपनी आत्मा की शुद्ध आवाज़ का गला दबाकर आत्मा का हनन तो करते ही होंगे। इससे भी कोई बच गया हो तो कौन गृहस्थी होगा जिसने काम कटारी चलाकर दूसरी आत्मा (पत्नी) के अखण्ड-ब्रह्मचर्य को खण्ड-खण्ड नहीं किया होगा? कौन है कि जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदि छाताधारी फौजों को अपने हृदय रूपी हवाई अड्डे (Aerodrome) पर उड़ान देकर, दूसरे के तन या मन रूपी देश पर उतार कर उसे हताहत नहीं किया होगा?

लोग कहते हैं – ''हम झूठ नहीं बोलते। हम किसी को धोखा नहीं देते।'' हो सकता है कि कोई व्यापारी विक्रय वस्तुओं में मिलावट न करता होगा, वह इन्कम-टैक्स और सेल्स-टैक्स का रजिस्टर ईमानदारी से बनाता होगा या दफ्तर का कोई बाबू दफ्तर का काम दिल लगा कर करता होगा और झूठे बहाने बनाकर छुट्टी नहीं लेता होगा, न रिश्वत में किसी से पैसा-धेला आदि लेता होगा, परन्तु आज जो सभी लोग स्वयं को अपने 'देह के पिता की सन्तान' मानते तथा अपनी देह के पिता को ही अपना 'पिता' बताते हैं, यह क्या छोटा झूठ है? क्या यह कम आत्म-वंचना है? सारा दिन स्वयं को 'आत्मा' की बजाय 'देह' मानकर चलना – यह क्या मामूली धोखा है? इस धोखे से तो चोखा नुकसान हो गया है! स्वयं को परमपिता परमात्मा की सन्तान न मानने के कारण ही तो

अविनाशी एवं अखण्ड सुख रूपी ईश्वरीय सम्पत्ति एवं पालन से वंचित हो गया है।

शायद कोई व्यक्ति आत्मा और परमात्मा को भी मानता होगा परन्तु, मानना एक बात है और पहचानना दूसरी बात है और पहचानकर तथा जानकर तदनुसार बरतना अथवा उन पर चलना तो विशेष ही बात है! आज कितने ही लोग ऐसे हैं जो कि परमात्मा की यथार्थ जान-पहचान न होने के कारण कहते हैं कि – "परमात्मा सर्वव्यापक है अर्थात् वह कुत्ते में, बिल्ली में, सर्प में, बिच्छू में, मल में, कीचड़ में और सब में है!" उन्हें यह बोध ही नहीं कि वास्तव में परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है, और उसे सब में व्यापक मानना और सब में बतलाना गोया अपने परम आदरणीय, परम कल्याणकारी परमपिता का अपमान करना, उसकी निन्दा-ग्लानि करना है। अत: कोई व्यक्ति किसी मनुष्य की निन्दा नहीं करता होगा, परन्तु वह परमपिता परमात्मा को सर्वव्यापक मानकर परम निन्दा का महापाप तो करता रहा है। वह बड़े-से-बड़ा अकर्त्तव्य करता रहा है – जो उसे नहीं मालूम। अत: गृहस्थ में रहते हुए अब कर्म-योग की उच्च सिद्धि को प्राप्त करने के लिए ज़रूरी है कि मन-वचन-कर्म से किसी को दु:ख न दो और किसी भी विकार के वश कर्म न करो और स्वयं (आत्मा) को और अपने परमपिता परमात्मा को यथार्थ रीति से जानो। अपने आपको तथा परमपिता को जानना तो मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। इस ज्ञान के बिना तो मनुष्य से अकर्त्तव्य होते ही रहते हैं और वह कर्म-योगी की बजाय कर्म-भोगी और पापी बना रहता है।

पूर्व-काल के अकर्त्तव्य को मिटाने का कर्त्तव्य

अच्छा, मान लीजिए कि इन सभी पापों से भी कोई बच कर रहता

है। परन्तु मनुष्य ने पूर्व-जन्म में भी तो कोई अकर्त्तव्य किये होंगे? आज जीवन में दु:ख और अशान्ति लाने वाली जो परिस्थितियाँ आती हैं, यह तो उनसे भी सिद्ध है कि मनुष्य ने पूर्व-जन्म में कई अकर्त्तव्य किये हैं, वरना अकारण ही तो दु:ख नहीं आ सकता। तो पूर्व-जन्मों में किये गए उन अकर्त्तव्यों के संचय को धोना भी एक कर्त्तव्य है और उनको धोने की विधि को जानना भी तो मनुष्य का एक ज़रूरी कर्त्तव्य है तथा अपने बच्चों या स्त्री आदि को भी उससे परिचित कराना भी तो उसका कर्त्तव्य है।

फिर आप देखेंगे कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को जानने के लिए यह जानना भी ज़रूरी है कि – "क्या देह से भिन्न कोई आत्मा नाम की भी अविनाशी सत्ता है और क्या उसका पुनर्जन्म और पूर्व-जन्म सत्य है और उसे अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का फल किसी-न-किसी जन्म में मिलता है? क्या इस देह के लोक से भिन्न किसी परलोक या स्वर्ग लोक आदि की भी सत्ता है जहाँ पर कि धर्म-युक्त कर्म करने वाले को सुख और अधर्म-युक्त कर्म अर्थात् अकर्त्तव्य करने वाले को दु:ख मिलता है? एक प्रश्न यह भी उठता है कि हमारे जो माता-पिता, बहन-भाई, पत्नी-पुत्र आदि हैं; क्या उनसे हमारा यह लौकिक नाता ही एक मात्र और आदर्श नाता है, या इन नातों से भिन्न, श्रेष्ठ और स्थायी कोई अन्य सम्बन्ध भी है? इन सभी बातों को जानने के बाद ही तो उनके प्रति हमारा कर्त्तव्य निर्धारित होता है। अत: यह सभी बातें भी कर्त्तव्य-ज्ञान की परिधि में आ जाती हैं। जब तक मनुष्य यह सारा ईश्वरीय ज्ञान स्पष्ट रूप से प्राप्त न करे, तब तक तो उससे कोई-न-कोई अकर्त्तव्य अथवा पाप होता ही रहता है।"

क्या दान-पुण्य करने से मनुष्य का कर्त्तव्य पूरा हो जाता है?

आज कुछ लोग कहते हैं – "गरीबों को अन्न-धन दान देना, रोगियों के लिए औषधालय खोलना, दूसरों की सेवा करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।" परन्तु इस विषय में ध्यान देने के लिए एक नुक्ता यह है कि इतने काल से गरीबों को अन्न-धन आदि दान दिया जाता रहा है, रोगियों के लिए अस्पताल भी खोले जाते रहे हैं, दूसरों की सेवा भी समाज-सेवक या पड़ोसी या दयालु-वृत्ति के लोग तो करते ही आये हैं परन्तु फिर भी आज संसार में किस कर्त्तव्य की कमी है कि आज भी रोगियों से अस्पताल भरे पड़े हैं, नये-नये रोग लोगों को हो रहे हैं, करोड़ों लोग आज भी ग़रीब हैं और लाचार हैं तथा दूसरों की रक्षा तथा सेवा के मोहताज हैं! आज जिस रफ्तार से अस्पताल बढ़ रहे हैं, उसी रफ्तार से जनसंख्या और रोगियों की संख्या बढ़ रही है। अत: यह संसार स्वर्ग तो नहीं बन रहा, यहाँ सब प्रकार के यत्न होने पर भी दु:ख और अशान्ति कम तो नहीं हो रही, उनका केवल रूप ही बदल रहा हो, यह हो सकता है। बल्कि, यों कहा जा सकता है कि इस प्रकार की स्थूल सेवा से तो दूसरों को पराश्रयी बनाया जाता है, उन पर कर्मों का और भी अधिक बोझ अथवा ऋण लादा जाता है और कर्मों की जंजीरों में एक-दूसरे को और अधिक जकड़ा जाता है। सर्वोत्तम सेवा तो यह है कि मनुष्य को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान देकर पुरुषार्थ-परायण, आत्म-निर्भर और सत्कर्म करने वाला तथा पूर्व-काल में किये अकर्त्तव्यों को धोने की सामर्थ्य वाला तथा कर्म-योगी बनाया जाये।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को अलग करने वाली रेखा

यह जो प्रश्न है कि कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है, इसका उत्तर अब प्रशस्त है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को अलग करने वाली लकीर अथवा रेखा प्रभु ने अपने हाथों से खींच दी है। जिस भूल के कारण इन्सान का कर्त्तव्य अकर्त्तव्य में बदलकर दु:ख की प्रारब्ध देता रहा है, उस भूल को अब हमें परमपिता परमात्मा शिव ने सुधारने की सहज युक्ति बता दी है। जिस चाबी से स्वर्ग के सुखों के खज़ाने हमारे हाथ लग सकते हैं और जिस मंत्र से इस संसार के नर-नारी, नदी-पहाड़ी, फूल-क्यारी, सरकारी-कर्मचारी और मज़दूर-व्यापारी सभी सुख देने वाले साधन बन सकते हैं। वह चाबी, वह मन्त्र अब उस कल्याणकारी परमपिता ने हमें सुझा दिया है। कौनसी है वह लकीर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को अलग करने वाली, क्या आप अब जान गये हैं?

वह है **'देही-निश्चय,' 'आत्मा-स्मृति'** अथवा स्वयं को अनादि अविनाशी आत्मा, परमपिता परमात्मा की अविनाशी सन्तान निश्चय करना। यदि मनुष्य स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करके, आत्म-स्वरूप में स्थित होकर परमपिता परमात्मा की स्मृति में टिक कर, अर्थात् योग-युक्त होकर कर्म करता है तो उसका कर्म धर्म-युक्त है और वह स्वयं एक कर्म-योगी है। तब मानो कि वह सत्कर्म या कर्त्तव्य करता है। जो स्वयं को **'देह-निश्चय'** करके बरतता या व्यवहार करता है, उसका कर्म कर्त्तव्य की रेखा को लाँघ कर अकर्त्तव्य की परिधि में चला जाता है। संसार में सभी प्रकार की युक्तियों, विचारों, औषधियों या साधनों को अपनाकर देखा गया है कि वह मनुष्य-मात्र के लिए कहाँ तक लाभकारी

सिद्ध होती हैं। परन्तु परमपिता परमात्मा द्वारा दी हुई इस परम युक्ति, परम-औषधि, परम मन्त्र, परम पुरुषार्थ को अपनाकर नहीं देखा गया, इसलिए आज संसार दु:खी है। अब इस कल्याणकारी युक्ति के प्रयोग से लाखों जनों को सुख रूपी रस मिला है और इस प्रयोग से प्रत्यक्ष है कि जो इसे अपने जीवन में धारण करेंगे, वे भी अवश्य ही कल्याण के भागी बनेंगे। कर्म-योगी, कर्त्तव्य-परायण तथा पवित्र बनने वाले नर को निश्चय ही आत्मिक सुख मिलेगा।

कर्मयोग और निस्संकल्प समाधि

निस्संकल्पता[1] एक ऐसा दिव्य-गुण है जिसको धारण करने से मनुष्य की सभी चिन्ताएं मिट जाती हैं। इस गुण द्वारा मनुष्य को सच्ची शान्ति मिलती है और उसकी बुद्धि व्यर्थ चेष्टाओं तथा मिथ्या विचारों से रिक्त होकर योग का आनन्द अनुभव करने में लग जाती है। निस्संकल्पता का अर्थ जड़ वस्तु की भाँति संकल्प-शून्य या अचेतन होना नहीं है बल्कि 'निस्संकल्पता' के पाँच मुख्य जीवन-उपयोगी अर्थ हैं, जिन्हें अपनाने से मनुष्य गृहस्थ में रहते हुए भी योगी जीवन का आनन्द पाता है और देव पद का अधिकारी हो जाता है।

१. बीते हुए वृत्तान्त के बारे में निस्संकल्पता

निस्संकल्पता का गुण धारण करने का एक भावार्थ तो यह है कि कर्म करने के बाद उसका जो परिणाम निकलता है, उसके विषय में मनुष्य को अधिक संकल्प नहीं चलाने चाहिए। उसे किसी वृत्तान्त अथवा घटना का बारम्बार चिन्तन नहीं करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, मान लीजिए कि एक मनुष्य ने अपने घर में मेज़ पर पड़ी हुई अपनी घड़ी को उठाया, परन्तु उठाते समय वह घड़ी उसके हाथ से छूटकर नीचे गिर गई और टूट गई और वह सोचने लगा – "हाय, यह क्या हो गया! पता नहीं किस मनहूस ने यह घड़ी यहाँ रख दी थी!! क्या ही अच्छा होता कि मैं इस समय इस घड़ी को हाथ ही न लगाता। मेरे तो भाग्य ही फूट गए हैं!! पता नहीं मेरे साथ ऐसी घटनाएं क्यों घटती हैं...?" इस प्रकार के व्यर्थ संकल्प करने वाले मनुष्य को 'निस्संकल्प' नहीं माना जाता

---

१. इस सारे लेख में निस्संकल्पता का अर्थ है – व्यर्थ संकल्प या विकारी संकल्प का न होना।

सकता। निस्संकल्प अवस्था वाला मनुष्य तो यह सोचता है कि **जो होना था सो हो गया अब पछताने से कोई लाभ नहीं है।** भविष्य में मुझे सावधानी बरतनी चाहिए और जब भी सम्भव हो मुझे इस घड़ी को ठीक करा लेना चाहिए। बस, इतना मात्र सोच कर वह बार-बार इस घटना का चिन्तन नहीं करता बल्कि शान्त-चित्त हो जाता है। वह घटना को एक 'होनी' अथवा 'नियति' (Destiny) मानकर शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता है और अपना समय तथा शक्ति व्यर्थ संकल्पों में नहीं गँवाता। वह जानता है कि संसार की सभी स्थूल वस्तुएं विनाशी होती हैं, उनके अनायास नाश अथवा ह्रास से मनुष्य को दु:खी नहीं होना चाहिए क्योंकि मनुष्य की खुशी अथवा शान्ति इन वस्तुओं से अधिक मूल्यवान् है। वस्तुओं को गँवा बैठने के साथ अपने ही संकल्पों से अपनी खुशी को भी गँवा देना गोया अपनी कब्र खुद बनाकर ज़िन्दा ही उसमें दाख़िल होना है। परन्तु योगाभ्यास के लिए तो हर हाल में सन्तुष्ट, मुदित, खुश अथवा निस्संकल्प रहना ज़रूरी है।

इसी प्रकार मान लीजिए कि एक मनुष्य बस में जा रहा था कि वहाँ भीड़ में किसी ने उसकी जेब काट ली। बाद में जेब को संभालने पर उसे यह मालूम हुआ कि कोई उसकी जेब काट गया है। अब यदि वह व्यक्ति व्यथित हो उठता है, स्वयं को कोसता है, दूसरों से झगड़ता है और इस प्रकार सोचता है कि –"आज तो मैं घर से बाहर ही न जाता तो ठीक होता! मैं कितना दुर्भाग्यशाली हूँ कि मेरे ही साथ यह दुर्घटना घटी! पता नहीं कौनसी मुसीबत मुझे इस बस में ले आई। मैंने आज जेब में इतने पैसे डाले ही क्यों...? क्या जेब कतरे को इन सभी आदमियों में मेरे सिवा कोई दिखाई ही नहीं दिया?...." इस प्रकार का चिन्तन करने वाले मनुष्य को निस्संकल्प नहीं कहेंगे, बल्कि उसे चंचल स्वभाव वाला अथवा

विक्षिप्त चित्त वाला मानेंगे। इसकी बजाय यदि अब जेब-कतरे को पकड़ने का कोई उपाय हो सकता हो तो ठीक वर्ना मनुष्य को यह सोचकर तुरन्त ही शान्त हो जाना चाहिए कि "जो होना था सो हो गया, अब आगे के लिए मैं सावधानी बरतूंगा!" ऐसे ही मनुष्य को हम 'निस्संकल्प' मानेंगे। ऐसी निस्संकल्पता ही योग में सहायक होती है।

इसी प्रकार, मान लीजिए कि कोई मनुष्य घर से निकल कर जब बस-स्टैण्ड के निकट पहुँचा तो उसने देखा कि जिस बस में वह जाना चाहता था, वह बस तो आधा मिनट पहले ही उस स्टैण्ड से रवाना हो गई थी और सामने ही जाती हुई दिखाई दे रही थी। वह मन में सोचने लगा – "हाय, मैं तो बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ! बस वाला भी कैसा निकम्मा आदमी है, आज वह बस को जल्दी ही ले गया। मुसीबत ही मुसीबत है!! जो होता है सब उल्टा ही होता है। अगर मैं घर से दो मिनट पहले निकलता तो बस मिल ही जाती, परन्तु अब तो बस चली गई....." इस तरह बीती को बिसारने की बजाय जो व्यक्ति व्यर्थ संकल्प चलाता है, वह गोया स्वयं को जिन्दा चिता पर जलाने के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी करता है। अत: स्वयं को बीती हुई बात पर खड़ा न करके स्वयं को उससे अलग और साक्षी मानना ही गोया निस्संकल्पता का गुण धारण करना है।

अनादि संकल्प से बनी हुई इस सृष्टि में अगर किसी वृत्तान्त के कारण असमंजस में पड़ कर कोई मनुष्यात्मा यह संकल्प उठाती है कि – "ऐसा क्यों हुआ? ऐसा न होकर वैसा होना चाहिए था" तो मानो कि वह अनादि संकल्प की सृष्टि पर स्थित न रहकर जो आत्मा अपने संकल्प की सृष्टि रचती है अर्थात् 'ऐसा क्यों हुआ? वैसा होना चाहिए था' – इस प्रकार का संशयात्मक संकल्प अथवा व्यर्थ चेष्टा उत्पन्न

करती है, तो मानो कि वह अपने लिए कर्म-बन्धन जुटाती है अथवा कर्मों का हिसाब-किताब बनाना शुरू करती है। ऐसी मनुष्यात्मा का योग नहीं लग सकता और वह शान्ति तथा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती। गृहस्थी-मनुष्य के जीवन में इस प्रकार की घटनाएं तो प्राय: आयेंगी ही। अत: उसे अपने मन में ऐसे तूफान नहीं आने देने चाहिए, बल्कि मन को निस्संकल्प की स्थिति में रखना चाहिए; तभी उसका योग प्रभु से एक-टिक लग सकेगा।

२. भविष्य के बारे में व्यर्थ संकल्प न करना

निस्संकल्पता का दूसरा भावार्थ यह है कि मनुष्य कर्म करते हुए भविष्य के लिए फ़ालतू और अयोग्य चिन्तन न करे। उदाहरण के तौर पर यह न सोचे कि – "हाय, अब मैं जिस कार्य के लिए जा रहा हूँ पता नहीं वह होगा कि नहीं होगा, अमुक व्यक्ति मेरी बात मानेगा कि नहीं मानेगा? यदि वह नहीं मानेगा तो मेरा जाना ही व्यर्थ हो जायेगा...।" परिणाम से पहले ही इस प्रकार के व्यर्थ संकल्प करना गोया स्वयं को असमंजस या दुविधा में डालना है और निर्बल बनाना और निराशा का गढ़ा खोदकर उसमें कूदना है। इसकी बजाय तो जो व्यक्ति किसी शुभ कार्य को अपना कर्त्तव्य समझकर उसे करने लग जाता है और अनागत अथवा भविष्य का व्यर्थ चिन्तन नहीं करता अथवा स्वयं ही अपने सामने हौआ लाकर स्वयं को नहीं डराता, वही निस्संकल्प है। वह मनुष्य असफलता में भी दु:खी नहीं होता क्योंकि वह तो कर्म को अविनाशी जानकर अथवा अपने कर्त्तव्य (Duty) को मीठा मानकर श्रेष्ठ कर्म के अन्त को श्रेष्ठ समझता है और उसे करने में खुशी मनाता है।

इसी प्रकार, मान लीजिए कि किसी मनुष्य के पुत्र को दफ्तर से

लौटने में एक-घण्टा देर हो गयी और वह सोचने लगा – ''मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि आज उसके साथ दुर्घटना (Accident) हो गई होगी। वह सड़क पार कर रहा होगा कि उधर से सरकारी बस गुज़री होगी और वह उसके नीचे आ गया होगा। फिर लोग उसे उठाकर अस्पताल ले गए होंगे। अब वह किसी अस्पताल में बेहोश पड़ा होगा। पता नहीं वह किस अस्पताल में होगा, या वह जीवित भी होगा या मर गया होगा? शायद वह सड़क पर ही पड़ा हो और किसी ने उसे वहाँ से इस डर के मारे उठाया ही न हो कि 'पुलिस हमको ही पकड़ लेगी और कहेगी कि आपने इसे मारा है।' हाय! बस के ड्राइवर भी अन्धे होकर बस चलाते हैं। उनका अपना बच्चा मरे तो उनको मालूम हो कि बच्चे की मृत्यु कितनी दु:खदायक होती है! पहले जब बसें नहीं होती थीं तो वह ज़माना अच्छा था।.....'' इस प्रकार संकल्प उत्पन्न करके वह रोता है और मुहल्ले वालों को इकट्ठा कर लेता है, सम्बन्धियों के पास सूचना भेज देता है कि मालूम होता है कि मेरा अमुक पुत्र आज दुर्घटना से मर गया...।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का चिन्तन करना गोया मकड़ी की तरह अपने मुंह से जाला निकाल कर स्वयं ही उसमें फँस जाना है। यह तो स्वयं को दु:खित करने के लिए चिन्ता की ज्वाला जलाकर उस पर व्यर्थ संकल्पों का तेल छिड़कना है। हमेशा मनुष्य को भला ही सोचना चाहिए और शान्त रहना चाहिए। दुर्घटना घटी या नहीं घटी – इसका पता ही न हो और मनुष्य उसके लिए घर में दूसरों के हृदय की गति को रोकने (हार्ट फेल करने) जैसी स्थिति पैदा कर दे, यह तो मन की विक्षेपता, उग्रता, उच्छृंखलता अथवा अनियन्त्रणता हैं। जैसे बे-लगाम घोड़ा आख़िर अपने सवार के लिए संकट पैदा करता है, वैसे ही बे-लगाम मन भी मनुष्य को तीव्र गति से, दु:ख के संकटमय मार्ग से, मृत्यु की खाई में

ले जाता है। ऐसी वृत्ति बनाये रखने से भला योग कैसे लग सकता है? योगाभ्यास करने वाले मनुष्य को तो एकाग्र करना होता है और व्यर्थ संकल्पों को रोकना होता है। अत: योग-समाधि की इच्छा वाले को चाहिए कि वह निस्संकल्प समाधि में रहे, अर्थात् हरेक परिस्थिति में व्यर्थ-संकल्पों-विकल्पों को छोड़े।

निस्संकल्प मनुष्य वह है जो पहले सारी स्थिति का सर्वेक्षण करता है, निश्चिन्त रीति से वास्तविकता को जानने का यत्न करता है, वह संसार सागर की लहरों में बह नहीं जाता बल्कि साक्षी होकर इस विराट नाटक को देखता है। वह समझता है कि – ''जो कुछ भी हो रहा है वह इस विराट नाटक की एक अनादि नाटकीय योजना के अनुसार ही हो रहा है; वह कर्म-विधान के अनुसार ठीक ही हो रहा है। भावी अटल है; इसलिए मनुष्य को दु:खी नहीं होना चाहिए बल्कि अपने से जो ठीक हो सके, उसे ही शान्ति तथा सन्तोष पूर्वक करना चाहिए।'' स्पष्ट है कि निस्संकल्पता के गुण को धारण करने में ही मनुष्य को शान्ति मिल सकती है, वर्ना तो मनुष्य का मन क्षण-क्षण के बाद कोई दूसरा-दूसरा ही दु:ख का कारण ढूँढ़कर स्वयं को व्यथा और शोक से पीड़ित करता रहेगा। चित्त की शान्त भूमिका में ही योग का अभ्यास किया जा सकता है।

३. अवकाश के समय स्वरूप-निष्ठ होना

निस्संकल्पता का तीसरा भावार्थ यह है कि जब मनुष्य कार्य-व्यवहार से अवकाश प्राप्त करे तो कछुए की तरह कर्मेन्द्रियाँ समेटकर सांसारिक और व्यावहारिक संकल्पों को छोड़कर स्वरूप-निष्ठ हो जाय। इस बात को सभी लोग मानते हैं कि अहम् 'आत्मा' का मूल स्वरूप तो है ही निस्संकल्पता। जब आत्मा मुक्ति की अवस्था में होती है तो निस्संकल्प

और शान्त होती है। फिर जब आत्मा मुक्तिधाम अथवा ब्रह्मलोक से उतर कर इस कर्म-क्षेत्र पर आती है और शरीर का आधार लेती है तब वह पहले केवल शुद्ध ही संकल्प उत्पन्न करती है। अत: अब जबकि पहले मुक्तिधाम में लौटना हमारा लक्ष्य है तो हमें निराकारी, निर्विकारी और निस्संकल्प अवस्था में स्थित होने का अभ्यास करना चाहिए। अब निस्संकल्पता हमारा मुख्य गुण होना चाहिए। पहले निस्संकल्पता को धारण करके पीछे ही हमें शुद्ध संकल्प में उतरना चाहिए।

अत: निस्संकल्पता का भावार्थ यह है कि 'जब मनुष्य स्वरूप-स्थिति के भावार्थ अथवा निराकारी, निर्विकारी, निस्संकल्प परमपिता परमात्मा की स्मृति के पुरुषार्थ के लिए बैठता है तो उस समय उसे इधर-उधर के या आगे-पीछे के संकल्प उत्पन्न नहीं करने चाहिए कि ''कल दूकान पर जाकर मैं अमुक धन्धा करूँगा अथवा दफ्तर में जाकर अमुक फाइल देखूँगा अथवा कि अमुक व्यक्ति मुझसे ठीक व्यवहार नहीं करता'' आदि आदि। जबकि हमारा मूल स्वरूप है ही निस्संकल्प और निराकारी तथा निस्संग (असंग) और उसमें ही टिकने का कार्य अभी हम कर रहे हैं तो साकारी अथवा शरीर-सम्बन्धी संकल्प अब उत्पन्न होने ही नहीं चाहियें बल्कि सांसारिक संकल्पों से निवृत्त (निस्संकल्प) होकर परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होना चाहिए। बस, ज्योतिस्वरूप परमात्मा की स्मृति में एकटिक स्थिति ही तो योग है।

४. कर्म करते हुए परमार्थ चिन्तन, ज्ञान-मंथन अथवा ईश्वरीय स्मृति

पूर्व पृष्ठों में निस्संकल्पता के गुण के तीन पहलुओं का हम विवेचन कर आये हैं – एक तो यह कि कर्म करने के बाद जब परिणाम सामने

आता है तो उस समय निस्संकल्प अवस्था या सहज समाधि वाले मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं, दूसरे यह कि कर्म प्रारम्भ करते समय निस्संकल्पता का गुण धारण करने का क्या भाव है, तीसरे यह कि जब कर्म से हम फ़ारिग हैं तो निस्संकल्पता की पराकाष्ठा में अथवा निस्संकल्प समाधि में स्थित होने का क्या अर्थ है? अब हमें यह स्पष्ट करना है कि जब कोई मनुष्य ऐसा कार्य कर रहा हो जिसमें कि उसकी बुद्धि को पूरी तरह लगाने की आवश्यकता न हो तो उस कर्म को करते हुए भी अन्यान्य सांसारिक संकल्पों को उत्पन्न न करके ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव-सम्बन्ध आदि की स्मृति में रहना ही निस्संकल्पता है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि कोई स्त्री बर्तन साफ़ कर रही है। इस कार्य को करते हुए यदि वह मन में यह सोच रही है कि – ''देखो तो सही, मेरे बच्चे कितने खराब हैं, वे मेरी तो एक नहीं मानते। मेरा पति भी उन्हें कुछ नहीं कहता, यह कैसी विकट समस्या है!.... ओह, मैं तो भूल गई, आज तो सिनेमा जाने का प्रोग्राम बनाना था और सखियों ने भल्ले-पकौड़ी की महफ़िल का वचन दिया था''.... आदि-आदि। इस प्रकार मन को इधर-उधर भगाना व्यर्थ में थकाना ही तो है। जबकि अभी बर्तन मांजने का ही कार्य हो रहा है और बच्चे स्कूल में तथा पति दफ्तर में है और जैसे-कैसे आज सखियों के साथ महफ़िल का प्रोग्राम ही नहीं है तो फ़ालतू उधेड़-बुन से क्या लाभ? अत: इन सांसारिक संकल्पों की बजाय स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करते हुए बुद्धि को परमात्मा के गुणानुवाद में इस प्रकार लगाना चाहिये कि – 'वह परमपिता तो सबके सद्गति करने वाले तथा कल्याणकारी हैं.....' और उनके प्रेम में तथा उनकी लगन में रहते हुए कार्य को करना गोया निस्संकल्पता की अवस्था को धारण करना है।

ठीक इसी प्रकार, मान लीजिए कि कोई व्यक्ति ताँगे में बैठा हुआ

जा रहा है। अब इस समय यदि वह सोच रहा है कि – "मेरा एक दोस्त जालन्धर में है, उससे मिले हुए कई वर्ष बीत गये हैं.... अब तो मेरे भाई का बच्चा काफ़ी बड़ा हो गया है.... परसों तो हमें तनख्वाह (वेतन) भी मिल जायेगी... मेरा अफ़सर भी अजीब आदमी है... यह सरकार भी निकम्मी है.... क्या ही अच्छा होता मैं इन्जीनियरिंग पढ़ लेता....।" इस प्रकार इधर-उधर के संकल्प करना गोया समय को व्यर्थ गंवाना ही तो है। ऐसे-ऐसे समय पर मनुष्य को चाहिए कि बुद्धि को परमार्थ में अथवा सत्संग में लगाये अर्थात् सत्य-स्वरूप परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित करे। अन्यान्य संकल्प न करके ईश्वरीय स्मृति में मन को टिकाना ही निस्संकल्प अवस्था को धारण करना अथवा निस्संकल्प समाधि में टिकना है।

७. न्यारापन ही निस्संकल्पता है

निस्संकल्पता का एक भावार्थ यह भी है कि मनुष्य न्यारा होकर रहे। उदाहरण के तौर पर, मान लीजिये कि किसी का पुत्र विद्या-अध्ययन के लिए ठीक तरह परिश्रम नहीं करता अथवा वह परीक्षा में असफल घोषित हुआ है। यह जानकर अब वह मनुष्य रात-दिन इसी चिन्ता में रहता है कि – "इसका क्या होगा? इसने तो मुझे बड़ा परेशान कर दिया है? यह तो पैदा होते ही मर जाता तो अच्छा होता। इसको तो मैं खूब पीटूँगा..." आदि-आदि। स्पष्ट है कि इस प्रकार चिन्ता और क्रोध द्वारा अपना भी स्वास्थ्य बिगाड़ना तथा घर के वायुमण्डल को भी अशान्त करना और अपने स्वभाव को चिड़चिड़ा, उदास तथा उद्विग्न बना लेना, गोया अपने ही पांवों पर स्वयं कुल्हाड़ा मारना है। निस्संकल्प मनुष्य समझता है कि हरेक आत्मा के संस्कार, कर्म और भाग्य आदि अपने-

अपने हैं, इसलिए यदि यह बच्चा मेरे कहने के बावजूद भी विद्या-प्राप्ति की ओर ध्यान नहीं देता तो मैं और कर ही क्या सकता हूँ? इसके कर्म इसके साथ हैं, मैं व्यर्थ में निज आत्मा को पीड़ित क्यों करूँ? मेरा कर्त्तव्य है इसे विद्या-प्राप्ति आदि के लिए सुविधाएं देना तथा विद्या के महत्व पर इसे समझाना। फिर यदि किन्हीं पूर्व-कर्मों के प्रभाव के कारण मेरी बात इसकी समझ में नहीं बैठती है, तो इसका ऐसा ही नसीब, ऐसा ही भाग्य होगा, इसमें चिन्ता करके अपने जीवन को बिगाड़ना तो ग़लती ही है। इस प्रकार, वह सम्बन्धियों, देशवासियों तथा समाज आदि के प्रति हित-भाव से कर्त्तव्य तो निभाता है परन्तु यह सब करने के बाद निश्चिन्त और निस्संकल्प हो जाता है। इस युक्ति के फलस्वरूप उसके जीवन में सुख-शान्ति की बेल लहलहाती रहती है और वह कभी भी शोक, चिन्ता तथा अशान्ति का शिकार नहीं होता बल्कि सहज समाधि में रहता है। जो मनुष्य इस प्रकार न्यारा या निस्संकल्प नहीं रहता वह पर-चिन्तन करता है, प्रभु-चिन्तन नहीं करता, वह ईश्वर को याद न करके मनुष्यों को याद करता है और वह निस्संकल्प समाधि के परम सुख से वन्चित रहता है।

'निस्संकल्प समाधि' से होने वाला सुख ऐसा सुख है जिसके सामने संसार के अपार खज़ाने भी तुच्छ हैं। इससे मनुष्य को एक ऐसे अद्भुत आन्तरिक सुख अथवा आनन्द का अनुभव होता है कि जो अवर्णनीय है।

योगाभ्यासी के लिए धारणा

योग का अभ्यास करने वाले मनुष्य के सामने कई प्रकार की परीक्षाएं अथवा विघ्न आते हैं। अगर मनुष्य को निम्नलिखित बातों में निश्चय हो अथवा यदि निम्नलिखित धारणाएं उसके जीवन में हों तो उसे योग में अच्छी स्थिति प्राप्त हो सकती है –

१. पवित्रता, शान्ति और परमात्मा ही सच्चे आश्रय हैं

आज कोई मनुष्य स्वयं को हिन्दू, कोई मुसलमान, कोई ईसाई और अन्य किसी धर्म को मानता है, परन्तु योगी तो **पवित्रता और शान्ति** को ही अपना स्वधर्म निश्चय करता है अथवा वह 'आदि सनातन **देवी-देवता धर्म**' को ही अपना धर्म मानकर पवित्र, शान्त और दैवी-गुण सम्पन्न बनने का पुरुषार्थ करता है।

ज्ञान-रहित भक्त मनुष्य तो अपने शास्त्र, गुरु, कर्म-काण्ड इत्यादि को ही कल्याणकारी समझकर उनमें लगा रहता है। परन्तु जो योग का अभ्यास करना चाहता है वह केवल परमपिता परमात्मा ही को कल्याणकारी मानकर, उनमें ही अपना मन लगाता है; उसे कर्म-काण्ड आदि-आदि भी थोथे लगते हैं। वह इन सब आधारों को छोड़कर एक परमपिता परमात्मा ही का आश्रय लेता है और सच्चे हृदय से उन्हीं की शरण में जाता है। वह लौकिक गुरुओं और पोथियों के भरोसे पर नहीं चलता बल्कि निराकार परमात्मा ही के 'एक बल, एक भरोसे' पर चलता है; क्योंकि वह समझ जाता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार इत्यादि बली विकारों पर विजय प्राप्त कराने का बल केवल एक

सर्वशक्तिमान् परमात्मा में ही है, अन्य किसी में नहीं। उनका मन अन्य सबसे हट जाता है और अत्यन्त स्नेह से एक परमपिता परमात्मा से जुट जाता है अथवा जुटना चाहता है। वह मनमत और गुरु-मत इत्यादि की भेंट में एक निराकार परमपिता ही के मत को सर्वश्रेष्ठ निश्चय करता है और संसार के लोग चाहे उसे कितना भी रोकते और टोकते रहें, वह मस्त-कलन्दर की तरह प्रभु ही का हो जाता है।

मनुष्य की इसी वृत्ति को ही ''सर्वोत्तम संन्यास वृत्ति'' कहते हैं क्योंकि भगवे कपड़े वाले संन्यासी तो केवल घर-बार और वस्त्रों ही का संन्यास करते हैं, किन्तु थोथी पंडिताई से उनका मोह नहीं टूटता, परन्तु सच्चा संन्यासी तो मित्र-सम्बन्धियों के बीच रहते हुए भी ममता का संन्यास करता है और उनका मन और कहीं न जाकर एकमात्र परमात्मा ही की ओर जाता है। गृहस्थ में रहते हुए योगाभ्यास करने के लिए ऐसी ही वृत्ति अथवा ऐसा ही संन्यास होना ज़रूरी है।

२. परमात्मा की सतयुगी रचना सुखदायी होती है

मिथ्या-ज्ञानी मनुष्य यह मानता है कि सुख और दु:ख दोनों परमात्मा ही देते हैं, परन्तु योगी सदा इसी निश्चय में रहता है कि परमात्मा तो कल्याणकारी हैं, वह तो सुखदाता और शान्तिदाता हैं, वह तो दु:ख-भंजक हैं, वह किसी को भी दु:ख नहीं देते। दु:ख तो माया अथवा मनुष्य के अपने किये हुए पापों ही का परिणाम है। परमात्मा तो मुक्ति और जीवन्मुक्ति के दाता हैं, वही तो सद्गतिदाता हैं। यह जो दु:ख दरिद्रता और दुर्गति की दुनिया है इसके रचयिता परमपिता परमात्मा नहीं हैं बल्कि वे तो सम्पूर्ण सुख और शान्ति वाली सतयुगी और त्रेतायुगी दुनिया के रचयिता हैं; जिसे 'स्वर्ग' 'जीवन्मुक्ति दुनिया' अथवा 'वैकुण्ठ'

कहते हैं। परमात्मा तो मनुष्यात्मा को दु:खी दुनिया से दूर मुक्तिधाम में, जहाँ से मनुष्यात्माएं यहाँ आई हैं, वापस ले जाते हैं। अत: अज्ञानी मनुष्य जिन परिस्थितियों में भगवान् को भी बुरा-भला कहता है और उस पर दोष धरता है, योगी उन परिस्थितियों में निस्संकल्प रहता है और परम-आत्मा को और मुक्तिधाम तथा जीवन्मुक्तिधाम को अधिक ही याद करता है क्योंकि उसका यह अटूट निश्चय होता है कि सभी संकट अपने ही विकर्मों के कारण सामने आते हैं और परमात्मा तो संकट-मोचन हैं। अत: वह खूब दिल से परमपिता परमात्मा से प्यार करता है, कारण कि वह जानता है कि वही तो इनसे छुड़ाने वाले हैं और वही तो मुक्तिधाम और जीवन्मुक्तिधाम में ले चलने वाले हैं।

३. भावी अथवा नियति में निश्चय

'अज्ञानी मनुष्य छोटी-सी आपदा आने पर अथवा कुछ भी विपरीत परिस्थिति होने पर घबरा जाता है, दु:खी होने लग जाता है और अपने शान्ति रूपी स्वधर्म को छोड़ देता है। परन्तु योगी का यह निश्चय दृढ़ रहता है कि हमें कर्म ही करना चाहिए उसके फल के लिए आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए। योगी जानता और मानता है कि भावी बनी हुई है अथवा इस सृष्टि-रूपी विराट नाटक की एक नियति (Pre-ordained Plan) है, उसके अनुसार ही सब-कुछ हो रहा है, अत: चिन्ता करना, व्याकुल होना या दु:खी होना मूर्खता है। वह जानता है कि परमात्मा ही की याद में रहने से बिगड़ी भी संवर जाती है अथवा सहन करने की शक्ति मिलती है। अत: वह व्यथित न होकर योग-युक्त होता है। वह 'हाय-हाय' न करके 'हरि-हरि' करता है, वह 'मरा-मरा' न बोलकर 'राम-राम' की स्मृति में रहता है, वह सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त के राज़

को समझने के कारण नाराज़ (ना-राज) नहीं होता। जो मनुष्य भावी अथवा नियति (Pre-determined or Pre-ordained Plan of this Drama) में निश्चय नहीं करता, उसकी अवस्था अडोल नहीं हो सकती, उसकी समाधि सहज और सुदृढ़ नहीं हो सकती, उसका योग अटूट और अखण्ड अथवा निरन्तर और निर्विघ्न नहीं हो सकता। संसार के कलह-क्लेश अथवा हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति उस ही के लिए विवशता का रूप धारण करते हैं जो इस संसार की विधि-विधान को अथवा इसकी भावी और नियति को नहीं जानता। वर्ना, जो 'भावी' में निश्चय रखता — वह एक-रस अवस्था में रहता है; उसका मन योग के सिंहासन से कभी नीचे नहीं उतरता; उसकी निष्ठा कभी भंग नहीं होती। बल्कि उसका मन परमात्मा पर एक-टिक हो जाता है और हुआ ही रहता है।

४. परिवर्तन और परिणाम

योगी जीवन का आनन्द चाहने वाले मनुष्य का यह निश्चय भी अटूट रहना चाहिए कि इस संसार की सभी चीजें नश्वर हैं और यहाँ के सभी पदार्थ परिवर्तनीय हैं। अज्ञानी मनुष्य इस बात को भूल जाता है अथवा वह इस बात को व्यवहार में नहीं लाता। इसलिए जब उसका कोई सम्बन्धी शरीर छोड़ता है तो वह रोने लगता है, जब कुछ धन की हानि होती है तो वह उदास हो जाता है; वह यह याद नहीं रखता कि परिवर्तन तो इस संसार के पत्ते-पत्ते पर लिखा हुआ है। परिणाम अथवा विनाश तो इस लोक के कण-कण में अंकित है। इसका नाम ही 'संसार' अर्थात् 'चलने वाला' अथवा 'जगत्' अथवा 'गति वाला' है। यहाँ कोई भी चीज़ वैसी की वैसी नहीं खड़ी है बल्कि सब-कुछ बदलता जा रहा है। जो मनुष्य योगी होता है वह इस बात को याद रखता है और इसलिए हानि-

लाभ अथवा निन्दा-स्तुति की परिस्थिति में एक-समान रहता है। क्योंकि उसका यह निश्चय होता है कि यह परिस्थिति भी परिवर्तन के चक्कर में आएगी ही, यह भी रहनी नहीं है। वह संसार को परिणामी और क्षण-भंगुर मानकर अपने मन को अपरिर्त्तनीय तथा एक-रस परमपिता परमात्मा ही में टिका कर स्थायी सुख लेने का पुरुषार्थ करता है। वह समय को व्यर्थ नहीं खोता क्योंकि वह जानता है कि उसका शरीर भी परिवर्तनशील और परिणामी ही है और किसी समय भी उसका अन्त हो सकता है। अत: वह शरीरान्त से पहले प्रभु का प्यार, परमात्मा का प्रेम अथवा उससे पवित्रता का लाभ उठाते रहने की धुन में लगा रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि योगाभ्यास में निश्चय का बड़ा महत्व है। कहावत है कि मनुष्य का जैसा निश्चय (Faith) हो वैसा ही उसका रूप (Form) होता है। निश्चय-भेद होने के कारण ही मनुष्य, मनुष्य में अथवा देवता और देवता में भेद हो जाता है। इसलिए गीता के भगवान् के महावाक्य हैं कि – मनुष्य का जैसा निश्चय हो, वैसा ही वह स्वयं होता है। अत: ऊपर जो रहस्य स्पष्ट किए गए हैं, जब उनके अनुसार मनुष्य इसी निश्चय में स्थित होता है कि – "मैं तो आत्मा हूँ, त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिमान्, ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, प्रेम के सागर परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ, पवित्रता और शान्ति ही मेरा स्वधर्म है अथवा देवी-देवता धर्म अर्थात् दिव्य-गुणों की धारणा मेरा धर्म (कर्त्तव्य) है और यह संसार तो एक परिवर्तित होते रहने वाला विराट नाटक है जो कि एक बनी-बनाई भावी के अनुसार चलता ही रहता है। मैं तो इसमें अपना पार्ट करने के लिए परमधाम से ही आया हूँ और अब मुझे यहाँ से लौट ही जाना है, सच्चा सुख तो एक परमपिता परमात्मा ही की स्मृति में अथवा उन द्वारा रची हुई सतयुगी सृष्टि ही में है और

योगी जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है...।'' तो इस निश्चय से वह योग-स्थित होकर समयान्तर से पूर्व वह पूर्ण पवित्रता, शान्ति और सुख अथवा देवी-देवता पद प्राप्त कर लेता है।

अब भोगी से कर्मयोगी बनो!

कुछ लोग समझते हैं कि गृहस्थाश्रम में तो 'काम' विकार की छुट्टी है। वे कहते हैं कि – ''अभी तो पवित्र रहने की हमारी अवस्था ही नहीं है। जब हम वृद्ध होंगे अथवा संन्यास-आश्रम में प्रवेश करेंगे तब हम इस विकार को छोड़ देंगे। अभी तो इस विकार को भोगना गृहस्थ का धर्म है। यह तो निभाना ही है, वर्ना शादी करने और गृहस्थी बनने का कोई अर्थ नहीं है। गृहस्थ में इसका भोग करने के लिए तो हमारे धर्मशास्त्रों और महात्माओं की आज्ञा है। हाँ, हम दूसरी नारियों के प्रति कुदृष्टि नहीं रखते।''

वास्तव में इस प्रकार की विचारधारा ही गलत है क्योंकि जिस गृहस्थ में काम-भोग है उसे तो **'आश्रम'** की संज्ञा हम दे ही नहीं सकते, कारण कि 'आश्रम' पवित्र स्थान का नाम है। आज लोगों की अज्ञानता और अपवित्रता के कारण 'घर' अलग और 'आश्रम' अलग बन गए हैं, सो बात अलग है।

आज भी जब विवाह होने पर वधू वर के घर आती है तो वर के माता-पिता कहते हैं – ''लक्ष्मी हमारे घर आई है।'' परन्तु वर और वधू की गृहस्थी में 'काम' के प्रवेश हो जाने के कारण वे श्री लक्ष्मी और श्री नारायण की तरह पवित्र नहीं रहते। उनके गृहस्थ में और श्री लक्ष्मी श्री नारायण के गृहस्थ में यही तो अन्तर है। यदि यह अन्तर न होता तो आज गृहस्थी श्री लक्ष्मी श्री नारायण दम्पत्ति को क्यों पूजते? अत: अब नारी को श्री लक्ष्मी के समान गुण धारण करने चाहिए, उसे कुलक्षणी नहीं बनना चाहिए। नर को भी नारायण बनना चाहिए, कामायण नहीं बनना चाहिए।

'वृद्धावस्था में पवित्र बनेंगे'– ऐसा सोचना भी स्वयं को धोखा देना है। भला सोचिये तो आज कितने आदमी वृद्धावस्था तक अपनी आयु को भोग पाते हैं? अनेक तो वृद्धावस्था से पहले ही मौत के शिकार हो जाते हैं और फिर वृद्धावस्था में पवित्रता (ब्रह्मचर्य) का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

ध्यान देने के योग्य बात है कि संस्कार पक्का हो जाने पर तो पुरुषार्थ करना कठिन होता है। अत: बुराई को तो शुरू में ही जड़ से उखाड़ देने में ही बुद्धिमानी है। आज लोग कहते हैं कि शास्त्रों में केवल 25 वर्ष तक के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम निश्चित किया गया है। परन्तु प्रश्न है कि आज लोग 25 वर्ष तक पूर्णरूपेण और मर्यादापूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कहाँ करते हैं? इसके अतिरिक्त, शास्त्रवादी स्वयं कहते हैं – शास्त्रों में 25 वर्ष तक ही ब्रह्मचर्य के लिए आज्ञा नहीं है बल्कि यह आज्ञा है कि यदि इसके पश्चात् 36 वर्ष तक कोई ब्रह्मचर्य पालन करना चाहे तो अच्छा है और उसके पश्चात् 48 वर्ष तक पवित्र रहने का व्रत ले तो उत्तम है और उसके बाद यदि कोई सारा जीवन ब्रह्मचर्य में ही व्यतीत करना चाहे तो अत्युत्तम है। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में लक्ष्य तो सारा जीवन ही ब्रह्मचर्य का पालन है परन्तु बाद में (द्वापर युग से) मनुष्यों के लिए 25 वर्ष तो अनिवार्य रूप से पूर्ण-ब्रह्मचर्य का पालन करने का नियम बनाया गया था। यदि जीवन-भर ब्रह्मचर्य पालन का लक्ष्य सामने न होता तो स्वयं 'महात्मा' लोग सारा जीवन ब्रह्मचर्य-व्रत क्यों धारण किये रहते और गृहस्थियों को महात्मा न मानकर संन्यासियों को ही लोग 'महान् आत्मा' क्यों मानते? तो अब जो मनुष्य गृहस्थ में रहते हुए योगी बनना चाहता है, उसे चाहिए कि वह काम विकार का संन्यास करके भोगी से योगी बने। उसका दर्जा घर-बार को छोड़ने वाले संन्यासियों से भी ऊंचा रहेगा। तब उसका गृहस्थाश्रम संन्यासियों के आश्रम से भी उच्च होगा।

अब सृष्टि के लिए संकट का समय है

इस पर भी विशेष बात यह है कि अब का समय तो संकट का समय (Emergency) है। ऐटम और हाईड्रोजन बमों द्वारा सृष्टि के महाविनाश की घड़ी तो निकट है और पतित-पावन, परमपिता परमात्मा आसुरी गृहस्थ वाली पतित एवं मर्यादा-हीन सृष्टि का महाविनाश कराके दैवी-मर्यादा वाली तथा योग-बल वाली पावन-सृष्टि की स्थापना करा रहे हैं। अत: अब महात्माओं से भी महान् जो परम पुनीत परमात्मा हैं, उनकी आज्ञा है कि इस अन्तिम जन्म के रहे हुए शेष थोड़े-से समय के लिए पवित्र बनो अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करो। गृहस्थियों के यहां भी जब कोई यज्ञ होता है अथवा उनके घर जब कोई महात्मा आता है, तब तो वे भी ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करते ही हैं। अत: जब कि स्वयं परमपिता परमात्मा शिव इस सृष्टि पर अवतरित हुए हैं और उन्होंने यहां गीता का ज्ञान-यज्ञ स्थापित किया है तो उनकी यह आज्ञा (Ordinance) है कि 'जब तक यह ज्ञान-यज्ञ चल रहा है तब तक तो पवित्र रहो।'

क्या गृहस्थ होते 'काम' विकार को जीता जा सकता है?

परन्तु यह सब सुनने पर भी कई लोग कहते हैं कि – "अजी गृहस्थ में रहते हुए इस काम विकार को जीतना भला कैसे सम्भव है? काम विकार तो स्वाभाविक है। स्त्री और पुरुष आग और कपास के समान हैं। ये इकट्ठे होंगे तो आग अवश्य लगेगी। घी का कनस्तर (Canister) अगर अग्नि के पास पड़ा होगा तो पिघलेगा अवश्य। अत: घर में रहते हुए 'काम' विकार को जीतना असम्भव ही है।" परन्तु वे भूल जाते हैं कि परमपिता परमात्मा शान्ति के सागर हैं, उनके योग से यह कामाग्नि

शान्त हो जाती है।

लोग स्वयं ही प्रतिदिन गाते हैं – ''मैं मूरख, खल, कामी कृपा करो भर्त्ता।'' स्पष्ट है कि परमात्मा की कृपा से पहाड़ भी तिनका बन जाता है। अत: जो 'काम' विकार अभी अजेय मालूम होता है, सर्वशक्तिवान् परमात्मा से शक्ति प्राप्त करने पर उसे जीतना सहज हो जाता है। परन्तु यदि कोई बच्चा यही कहता रहे कि – ''घुटने के बल चलना तो 'मनुष्य-जाति' के लिए स्वाभाविक है'' तो यह उसकी बाल-बुद्धि की भूल है। वास्तव में वह बच्चा किसी समर्थ की अंगुली पकड़कर खड़ा होकर पाँव पर चलना सीख सकता है। इसी प्रकार, परम शिक्षक एवं सद्गुरु परमात्मा की ज्ञान तथा योग रूपी अंगुली पकड़ने से हम पवित्रता के पथ पर चलना सीख सकते हैं, क्योंकि वही एक सर्व समर्थ हैं। ऋषि-मुनि, साधु-सन्त, गुरु-गोसांई इसके योग्य हमें नहीं बना सकते। इस 'काम' रूपी विषय सागर से पार करने वाला पतित-पावन वह एक निराकार राम ही है। इसलिए 'खेवनहार', 'तारनहार', 'पतित-पावन' इत्यादि शब्दों से एक-मात्र उस ही का गायन होता है। परन्तु आज मनुष्य ने जीवन की नैया राम के हवाले करने की बजाय 'काम' के हवाले कर रखी है और फिर कहता है कि – ''इस विषय सागर से पार उतरना असम्भव है।''

कर्मों पर ध्यान दिये बिना मन ठीक नहीं हो सकता

पवित्र बनने के लिए अपने कर्मों पर ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि पिछले जन्मों के विकर्मों का बोझ मिटाना है; दूसरे, यह ध्यान देना है कि अब कहीं विकारों के वश ऐसा कर्म न हो जाए कि जिससे विकर्म-खाता और भी बढ़ जाए। मन में विकारों के तूफान आवेंगे अवश्य परन्तु आप कर्मेन्द्रियों से कोई विकर्म न होने दो। मन तब तक सीधा नहीं होगा जब तक कि कर्मों पर कन्ट्रोल नहीं करोगे। ऐसे मत समझो कि ज्ञान सुनते-सुनते मन अपने आप ही साफ़ होता जायेगा और विकार मिटते जायेंगे। नहीं-नहीं, कथा प्रवचन सुनते-सुनते तो द्वापरयुग और कलियुग गुज़र गए हैं परन्तु जीवन अभी भी नहीं बदला है। जब तक कर्मों पर पूरा ध्यान नहीं दोगे, तब तक मन ठीक नहीं होगा। मन पर तो पहले से ही पापों का बोझ चढ़ा हुआ है; अगर आप अब भी मन को बुरे कर्मों से थमायेंगे नहीं तो सत्य की शक्ति आएगी कैसे? हमारे जीवन का क्षण-क्षण कर्मों के अनुसार ही तो चलता है। इसलिए कर्मों के विषय में सावधान होना तो बहुत ज़रूरी है। वर्ना मन अपने आप कैसे ठीक होगा? जिन विकर्मों से मैल चढ़ा है, अगर वही विकर्म फिर भी करते रहोगे तो मैल उतरेगा कैसे? कर्मों को पवित्र बनाना ही तो इस समय का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है।

योग की कठिनाई का बहाना व्यर्थ है

आप देखेंगे कि मनुष्य हमेशा उसी काम को करता है जो सहज हो। वह कोशिश करता है कि कठिन काम भी किसी तरह सहज हो जाए। परन्तु आज लोगों ने यह ग़लत धारणा बना रखी है कि परमात्मा को याद करना, उसकी स्मृति में मन को स्थित कराना बहुत ही कठिन है, उसके लिए हठ-क्रियाएं करनी पड़ती हैं, उपवास करने पड़ते हैं, जंगलों में कन्द-मूल पर निर्वाह करना पड़ता है, आदि-आदि। साधु-सन्त भी प्रतिदिन उन्हें अपने व्याख्यान में यही कहते हैं कि मन बड़ा चंचल है, इसलिए मनुष्य आज पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि मन चंचल है, तो चंचल ही सही। वे कभी घण्टा-आधा-घण्टा परमात्मा की स्मृति में बैठते भी हैं तो उनके मन में आनन्द-रस की प्राप्ति नहीं होती। अत: वे आगे के लिए यत्न करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि – ''पता नहीं मन लगेगा भी या नहीं''। अत: वे सोचते हैं कि आंखें बन्द करके दो सेकेण्ड ईश्वर के प्रति हाथ जोड़ देना ही काफ़ी है। परन्तु उन दो मिनटों में भी उनका मन स्मृति में स्थिति का परम आनन्द लेने का सौभाग्य नहीं पाता। अब वास्तव में देखा जाये तो मनुष्य की यह हालत उस परमपिता का तथा अपना यथार्थ परिचय न होने के कारण, परमात्मा की स्मृति में एकतानता के बारे में साधुओं के झूठे कथनों के कारण और पुरुषार्थ-हीनता के भाव तथा आलस्य के स्वभाव के कारण ही है। ज़रा बताइये कि माँ अपने बच्चे को बोलना सिखाने के लिए कितनी मेहनत करती है?

फिर बच्चे को चलना तथा भाषा सिखाने में उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है! तब कहीं उसे मेहनत के फलस्वरूप वह बच्चा बड़ा होकर कोई बड़ा स्पीकर (वक्ता), विचारक अथवा विद्वान् एवं गुणवान् व्यक्ति बन जाता है। यदि पहले उस पर मेहनत न होती तो वह गूंगा रह जाता और चलने के बजाय खिसक-खिसक कर बढ़ता। अत: लोग बच्चों के लिए तो कोशिश करते हैं कि उनका पूरा विकास हो। वे उसे किताबें भी खरीद कर देते हैं ताकि उसकी बुद्धि विकसित हो और वह अपने पाँव पर खड़ा हो सके। फिर वे यह भी ख्याल करते हैं कि उसे कमाई का भी साधन प्राप्त हो। फिर उसको वे घर भी बनवा कर देते हैं ताकि उसका कोई ठिकाना हो और वह कहीं दु:खी न हो। इस प्रकार, बच्चे के जन्म के समय से लेकर उस पर कितनी मेहनत करनी पड़ती है। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि इस मेहनत का हज़ारवाँ या लाखवाँ हिस्सा भी मनुष्य अपने जीवन को सच्ची शान्ति एवं सुख से सरसाने के लिए नहीं लगाता जिससे कि भविष्य में भी वह जन्म-जन्मान्तर के लिए स्वर्गिक सुख प्राप्त कर ले। इस पुरुषार्थ के लिए तो वह कहता है कि 'मेरे पास समय नहीं है' अथवा कि इस कार्य में मेहनत करनी पड़ती है। परन्तु वह यह नहीं सोचता कि मेहनत तो हर-एक कार्य के लिए करनी पड़ती है और मेहनत के बाद ही तो मीठा फल प्राप्त होता है और, यह मेहनत तो अतुल फल देने वाली तथा अति सहज है; इससे तो मनुष्य सदा के लिए मालामाल हो जाता है।

पुरुषार्थ करते-करते तो मनुष्य ने रॉकेट बना लिए हैं अथवा एटॉमिक शक्ति खोज डाली है। यह कहना कि परमात्मा को याद करना कठिन है, यह तो पुरुषार्थ-हीनता तथा अज्ञानता की निशानी है। मनुष्य के जितने लौकिक सम्बन्धी आज हैं, उनसे यदि एक और ज्यादा होता

तो क्या वह उसे याद न कर सकता? किसी माँ का यदि एक बच्चा और बढ़ जाता है तो क्या वह उसके लिए समय नहीं निकालती? अत: समय न मिलने या याद न कर सकने का बहाना झूठा है। जो लोग कहते हैं कि – "मन चंचल है, वह टिकता नहीं है" उन्हें सोचना चाहिए कि जब तक यह ज्ञान न हो कि मन को टिकाना कहाँ है, वह टिकेगा कैसे? इसलिए, हम कहते हैं कि बच्चों पर तो इतना ध्यान देते हो, उन पर धन भी खर्च करते हो परन्तु कुछ तो अपना भी भविष्य सुधार लो, ज्ञान प्राप्त करके मन की सच्ची शान्ति का उपाय भी तो कर लो।

योगाभ्यास में विकल्प और विघ्न

ई लोग कहते हैं – "योगाभ्यास करने की मन्सा से ही हम प्रात:काल उठकर बैठते तो हैं परन्तु मन बहुत तूफ़ान मचाता है। अनेक प्रकार के संकल्पों से चित्त परेशान होने लगता और अभ्यास हो ही नहीं पाता।" वे पूछते हैं कि – "अभ्यास में स्थिरता लाने की क्या युक्ति है? हमारे जो मायावी संस्कार हमें अपनी ओर खींचते हैं, उनको हम कैसे हटायें? ईश्वरीय स्मृति में जो आनन्द मिलता है और जो शक्ति प्राप्त होती है उसका स्थायी अनुभव हम कैसे पायें? हमारे इन विकल्पों का कारण और निवारण क्या है?"

बात यह है कि मन को जो अपनी पुरानी टेव पड़ी हुई है, वह तो उस ही के अनुसार चलता है। अब उसे ईश्वर की ओर लगन लगाने के लिए दो मुख्य बातों का ख्याल रखना चाहिए। एक तो यह कि ये मायावी विकल्प तभी तक आयेंगे जब तक स्वयं को इस मृत्यु-लोक का वासी समझेंगे! अत: युक्ति यह है कि आप इस निश्चय में टिकें कि – "मैं आत्मा परमधाम का वासी हूँ अथवा मैं परमधाम से इस सृष्टि-मंच पर कुछ पार्ट बजाने आया हूँ। बस, मुझे तो अब शीघ्र ही यहाँ से लौटकर उस ज्योतिलोक में, उस शान्तिधाम में, उस पवित्र पुरी में अथवा उस प्रभु के देश में लौटना है।" जब आप परमधाम अथवा परलोक की स्मृति में रहेंगे तो स्थिति भी पारलौकिक अथवा अलौकिक हो जायेगी।